योगविद्या

वर्ष 11 अंक 8
अगस्त 2022
सदस्यता डाकखर्च – रु100

बिहार योग विद्यालय, मुंगेर, बिहार, भारत

हरि: ॐ

योगविद्या का सम्पादन, मुद्रण और प्रकाशन स्वामी सत्यानन्द सरस्वती के संन्यासी शिष्यों द्वारा स्वास्थ्य लाभ, आनन्द और प्रकाश प्राप्ति के इच्छुक व्यक्तियों के लिए किया जाता है। इसमें बिहार योग विद्यालय, बिहार योग भारती, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट तथा योग शोध संस्थान के क्रियाकलापों की जानकारियाँ प्रकाशित की जाती हैं।

सम्पादक – स्वामी ज्ञानसिद्धि सरस्वती

योग विद्या मासिक पत्रिका है। देर से सदस्यता ग्रहण करने पर भी उस वर्ष के जनवरी से दिसम्बर तक के सभी अंक भेजे जाते हैं।

बिहार योग विद्यालय, गंगादर्शन, फोर्ट, मुंगेर, 811201, बिहार, द्वारा प्रकाशित।

थॉमसन प्रेस इण्डिया लिमिटेड, फरीदाबाद, 121007, हरियाणा में मुद्रित।

© Bihar School of Yoga 2022

पत्रिका की सदस्यता एक वर्ष के लिए पंजीकृत की जाती है। कृपया अपने आवेदन अथवा अन्य पत्राचार निम्नलिखित पते पर करें –

बिहार योग विद्यालय
गंगा दर्शन,
फोर्ट, मुंगेर, 811201
बिहार

✉ अन्य किसी जानकारी हेतु स्वयं का पता लिखा और डाक टिकट लगा हुआ लिफाफा भेजें, जिसके बिना उत्तर नहीं दिया जायेगा।

कुल पृष्ठ संख्या : 56 *(कवर पृष्ठों सहित)*

कवर एवं अन्दर के प्लेट:
श्री स्वामी सत्यानन्द सरस्वती, 1988

श्री स्वामी सत्यानन्द सरस्वती के प्रति गुरु-भाइयों की श्रद्धांजलि

स्वामी शिवानन्द जी अंग्रजी में लिखते हैं। उनके अंग्रेजी लेखों का सरल हिन्दी अनुवाद स्वामी सत्यानन्द जी यदि न करते तो मुझे ऐसा लगता है कि श्री शिवानन्द जी हमारे तक न पहुँच पाते। मैं अंग्रेजी भी पढ़ता हूँ, मगर जैसे हिन्दी समझ पाता हूँ, वैसे अंग्रेजी नहीं।

स्वामी सत्यानन्द जी का नाम हिन्दी साहित्य में हमेशा अमर रहेगा, क्योंकि उन्होंने उच्चकोटि के हिन्दी साहित्य का निर्माण किया है। शिवानन्द आश्रम में अनेक रत्न हैं, उनमें सत्यानन्द जी वाकई कोह-ए-नूर हैं। इस छोटी-सी तीस वर्ष की उम्र में उन्होंने खून का पसीना कर और रात का दिन कर जिस साहित्य का निर्माण किया है, उसे संसार कभी नहीं भूल सकता।

– श्री सी.जे. मुनोत, शोलापुर

बिहार योग विद्यालय, गंगादर्शन, फोर्ट, मुंगेर–811201, बिहार के लिए स्वामी शिवध्यानम् सरस्वती द्वारा प्रकाशित एवं मुद्रित
मुद्रक – थॉमसन प्रेस इण्डिया लिमिटेड, 18/35 माइलस्टोन, दिल्ली मथुरा रोड, फरीदाबाद–121007, हरियाणा
स्वामित्व – बिहार योग विद्यालय **सम्पादक** – स्वामी ज्ञानसिद्धि सरस्वती

योगविद्या

वर्ष 11 अंक 8 अगस्त 2022
(प्रकाशन का 60 वाँ वर्ष)

विषय सूची

इस विशेषांक में श्री स्वामी सत्यानन्द सरस्वती के ***कर्मयोग*** *विषयक सत्संगों का संकलन है*

4 विषाद से योग का प्रारम्भ
6 कर्म ही जीवन का प्रधान तत्त्व
10 कर्मयोग एवं ध्यानयोग का समन्वय
14 कर्मयोग और चित्त की एकाग्रता
19 जीवन और मृत्यु
22 दैनिक जीवन का योग – कर्मयोग
36 साधक साधना नहीं करता
41 ईश्वरेच्छा बलीयसी
42 पुरुषार्थ, प्रारब्ध एवं पुनर्जन्म
48 सत्यम् संवाद

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिक:। कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥

विषाद से योग का प्रारम्भ

महाभारत के युद्ध क्षेत्र में भगवान श्रीकृष्ण ने गीता कही और केवल अर्जुन ने सुनी, यद्यपि वहाँ अठारह अक्षौहिणी सेना की उपस्थिति बतायी जाती है। यह गुरु-शिष्य संवाद के रूप में है, इसीलिए गीता को उपनिषद् कहा गया है। इसमें योग की विभिन्न पद्धतियों का वर्णन है, इसलिए यह योगशास्त्र है। और चूँकि इसमें योग के माध्यम से मानव जीवन के परम लक्ष्य, ब्रह्म को जानने के उपाय बताये गये हैं, इसलिए ब्रह्मविद्या है।

गीता का प्रारम्भ अर्जुन के विषादयोग से होता है। महर्षि पतंजलि के अनुसार जब चित्त एकाग्र होने लगे तो योग का प्रारम्भ होता है, पर गीता के अनुसार योग का प्रारम्भ विषाद से होता है। मानव जीवन में जब विषाद का उदय होता है और वह उससे अपना पिण्ड छुड़ाना चाहता है, तो उसी समय से योग का प्रारम्भ होता है। योग का अन्तिम लक्ष्य भी तो है विषाद से मुक्ति।

विषाद सब के जीवन में होता है। इससे कोई बचा नहीं है, चाहे यह प्रत्यक्ष रूप में हो या अप्रत्यक्ष रूप में। जब मानव मन अविद्या और मोह से भयभीत हो जाता है तब विषाद का उदय होता है। विषाद मानव जीवन की

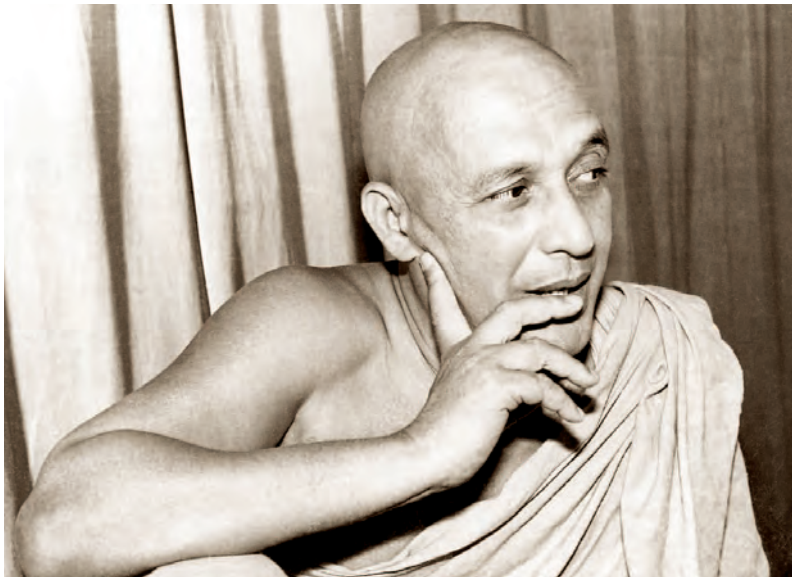

न तो क्षणिक और न दैनिक घटना है। यह उसे अपनी पशु योनि से मिला है। यह जन्म-जन्मानतर के संस्कारों का गट्ठर है। यह इतना सूक्ष्म है और इतनी तह में पड़ा है कि इसे भौतिक आँखों से देखा नहीं जा सकता। विषाद की छाप मनुष्य के आचार-विचार एवं दैनिक कार्य-कलापों पर पड़ती है। यही विषाद अविद्या है, बन्धन है। जिस दिन यह छूट जाएगा, उसी दिन मुक्ति मिल जाएगी, मोक्ष हो जाएगा। इसकी प्राप्ति के लिये आत्मज्ञान आवश्यक है।

मनुष्य की सारी समस्याओं की जड़ तो उसका मन ही है। मन वैसे कोई बुरी चीज नहीं। यह उसकी प्रगति में साधक है, बाधक नहीं। यह बड़ा शक्तिशाली और उपयोगी यंत्र है। यह मित्र भी है और शत्रु भी। जब तक यह मनुष्य के कब्जे में रहता है, तब तक मित्र रहता है, लेकिन जब मनुष्य उसके कब्जे में चला जाता है तो यही मन उसका शत्रु बन जाता है।

मन को अपने अधिकार में रखने के लिये उसे धीरे-धीरे एकाग्र करना पड़ेगा। एकाग्र मन से ही आत्मा का अनुसंधान सम्भव है। जब मन एकाग्र हो जाता है तब आदमी की प्रतिभा जागती है। इसके लिये साधक को श्रद्धावान् और जितेन्द्रिय होना आवश्यक है।

भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन के विषाद को दूर नहीं किया था, बल्कि उन्होंने तो उसकी केवल प्राथमिक चिकित्सा की थी। उसे सांख्य का उपदेश दिया था। सांख्य से यहाँ तात्पर्य किसी वस्तु को अच्छी तरह जानने से है। शास्त्रों में चित्त की जो पाँच गतियाँ बतायी गयी हैं, वे क्रमश: मूढ़ावस्था, क्षिप्तावस्था, विक्षिप्तावस्था, एकाग्रतावस्था और निरोधावस्था हैं। यहाँ भी हम देखते हैं कि प्रारम्भ मूढ़ावस्था से ही होता है।

विषाद की अवस्था में मनुष्य उन्हीं बातों की चिन्ता करता है, जिसकी चिन्ता उसे नहीं करनी चाहिये। विषाद रहित व्यक्ति बीती बातों की चिन्ता नहीं करता और न ही वह भविष्य में घटित होने वाली बातों से घबड़ाता है। वह तो भविष्य की ठोस योजना बनाता है और अनासक्त भाव से उसके अनुसार कर्म करता है। विषादग्रस्त व्यक्ति को नास्तिक भी कहा गया है। नास्तिक व्यक्ति वह है जो भविष्य से परेशान है, वर्तमान से असन्तुष्ट है और भूतकाल से क्षुब्ध है।

मनुष्य एक शिल्पकार है, और उसकी जीवात्मा एक अनगढ़ पत्थर। वह अपनी साधनाओं द्वारा उस पत्थर को तराश कर एक सुन्दर प्रतिमा का निर्माण करता है, जिसका नाम मोक्ष है।

कर्म ही जीवन का प्रधान तत्त्व

गीता का मुख्य विषय योग एवं ब्रह्मविद्या है, लेकिन साथ ही यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि इस विद्या का उपदेश भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को ही क्यों दिया और वह भी कुरुक्षेत्र के समरस्थल में? इसका उपदेश तो किसी त्यागी या वृद्ध व्यक्ति को देना चाहिए था जो संसार को त्याग चुका होता या उसके बंधनों से मुक्त होना चाहता। ठीक इसके विपरीत अर्जुन एक सांसारिक व्यक्ति

है, कुरुक्षेत्र के मैदान में सेनापति के रूप में मुकुट धारण किये उपस्थित है। अर्जुन ने अब तक लड़ाई जीती नहीं, उसे तो लड़ाई लड़नी है।

योग का सम्बन्ध त्याग या कर्म-पराङ्मुखता से नहीं, बल्कि कर्मठता एवं कर्त्तव्य-परायणता से है। यह मन को शक्तिशाली बनाकर मानव-जीवन को उपयोगी एवं कर्मनिष्ठ बनाता है।

प्रत्येक कर्म करने वाले व्यक्ति को कर्म बांधता ही है। कर्म करते-करते कर्म का आघात लगता ही है। आघात कई प्रकार के होते हैं। उदाहरण के लिए श्रम के आघात को ही लें। इससे शरीर थक जाता है। फिर रोग का आघात लगता है। वैसे ही जीवन की असफलताओं का भी आघात लगता है। इन आघातों के कारण मनुष्य को जीवन का सही आनन्द नहीं मिल पाता। सुख एवं आनन्द समझ में ही नहीं आता। यदि मानव-जीवन से आघातों को निकाल दिया जाए, उसके प्रभाव को समाप्त कर दिया जाए तो जीवन आनन्दमय हो जाएगा।

यहाँ आघात से केवल दु:ख का ही आघात नहीं समझना चाहिए, सुख का भी आघात होता है। जो कर्म करेगा उसे आघात लगेगा ही और मनुष्य कर्म किये बिना रह भी नहीं सकता। यह मन की प्रवृत्ति है। उसकी प्रकृति उसे कर्म करने को विवश कर देती है। मन कभी बैठ नहीं सकता। जो साधु एकान्त में बैठकर आध्यात्मिक साधना करता है, वह भी कर्म करता है। साधना भी कर्म है। यदि कोई मिथ्याचारी प्रत्यक्ष रूप से कर्म नहीं करता है तो इससे क्या! उसका मन तो अप्रत्यक्ष रूप से लगातार कर्म करता रहता है। लेकिन कर्म करना कोई पाप नहीं है। कर्म पर लोगों ने नाहक पाप थोप दिया है। कर्म तो करना ही चाहिये, केवल उसके आघात से बचना चाहिए, उसे दूर करना चाहिए।

गीता योग-शास्त्र का विषय है, सिद्धि, मोक्ष या समाधि का नहीं। यह उपदेश देती है आघात-रहित जीवन का। यदि मनुष्य आसक्तियों को छोड़कर कर्म करे और सुख-दु:ख, लाभ-हानि, जय-पराजय में अपने मनोभावों को संतुलित रखे, तो वह दु:खी नहीं हो सकता। योग की इसी स्थिति को प्राप्त करने के लिए प्रत्येक साधक को कर्तव्य कर्म करना चाहिए। भक्ति-मार्ग या ज्ञान-मार्ग के पथिक को यदि यह स्थिति प्राप्त नहीं हाती तो वह कोल्हू के बैल की तरह सम्पूर्ण जीवन बिताने के बाद भी जब रुककर आँखें खोलता है तो अपने को वहीं पाता है, जहाँ से उसने अपनी साधना प्रारम्भ की थी। वह

चाहे जब तक साधना करे, जीवन का बंधन नहीं खुलता, योग की अवस्था प्राप्त नहीं होती।

प्रत्येक योगाभ्यासी को साधना प्रारम्भ करने के पूर्व सोचना चाहिए कि योग की उसे क्यों आवश्यकता पड़ी। अपने गंतव्य स्थान की कल्पना किये बिना साधना के पथ का पथिक आध्यात्मिक दिग्भ्रान्त बनकर रह जाता है। योग की साधना सिद्धि, मोक्ष या निर्वाण के लिए नहीं है, बल्कि यह मानसिक व्यायाम है। मन जब मजबूत होता है तो उस पर कर्म का आघात नहीं पड़ता। आघातों से बचने के लिये मनुष्य को अपने जीवन को हर परिस्थिति के अनुकूल बनाना चाहिए। जीवन सादा एवं गरीब की तरह बिताना चाहिए। परिस्थितियों के अनुकूल जीवन को ढालने के लिये तैयार रहना चाहिए।

इसी सिलसिले में हठयोग, राजयोग या ज्ञानयोग की बात आती है। मानव-जीवन का मुख्य तत्त्व कर्म है। भक्तियोग, ज्ञानयोग और राजयोग के अभ्यास से मनुष्य में आघातों को बर्दाश्त करने की क्षमता आती है। इससे पूर्वार्जित अनन्त संस्कारों का क्षय भी होता है और नये संस्कार बनते भी नहीं हैं। इसलिए कर्म ऐसा करें कि पूर्व संस्कारों का क्षय तो हो, पर नये संस्कार बनें नहीं।

भक्तियोग भगवान में आस्था उत्पन्न कर मनुष्य में निश्चिन्तता एवं निर्भीकता उत्पन्न करता है; राजयोग त्याग एवं एकाग्रता उत्पन्न करता है और ज्ञानयोग बुद्धि प्रदान करता है। कर्म-कुशलता कर्म-योगी व्यक्ति को आघातों से बचाने की क्षमता प्राप्त करने में मदद करती है।

मनुष्य की निष्ठा दो प्रकार की होती है। एक तो प्रवृत्ति मार्ग की, जो अधिकतर संसारी गृहस्थों में पायी जाती है और दूसरी निवृत्ति मार्ग की, जो संन्यासियों में देखने में आती है। ये दोनों मार्ग भिन्न-भिन्न आश्रमों का प्रतिनिधित्व नहीं करते, बल्कि जीवन की दो व्यावहारिक दृष्टि-भंगिमाएँ मात्र हैं। ज्ञान-योगियों को जो ज्ञान के द्वारा प्राप्त होता है, वही कर्म-योगियों को कर्म के द्वारा मिलता है। कर्म-त्याग से समाधि नहीं मिलती।

प्रवृत्ति-मार्ग कर्म का मार्ग है और निवृत्ति-मार्ग कर्म की आसक्ति के त्याग का। एक पिपीलिका मार्ग है, दूसरा विहंगम। जिस लक्ष्य को कर्म-योगी चींटी की तरह धीरे-धीरे प्राप्त करता है, उसी लक्ष्य को त्यागी निवृत्ति मार्ग द्वारा पक्षी की तरह उड़कर प्राप्त करता है।

कर्म करते-करते मनुष्य के जीवन में सद्गुणों का संचय होता है तथा दु:ख के आघातों को सहन करने की क्षमता आती है। अत: कर्ममार्ग ही श्रेष्ठ एवं

निरापद है। यह सब को प्राप्त भी है। कर्म का त्याग कठिन है और यदि कोई करे भी तो उसे उसका अभिमान नहीं करना चाहिए। शरीर और प्राण से मोह न हो और त्याग का अभिमान भी न हो। त्याग महान् है, लेकिन सब को प्राप्त नहीं है। कर्म सर्वसुलभ है। कर्म करते-करते शान्ति प्राप्त होती है। आघातों से बचने की क्षमता भी उत्पन्न होती है और आनन्द भी मिलता है। लेकिन इसके लिये साधना करनी पड़ती है। इसके लिये मन को उचित शिक्षा की आवश्यकता है। इसी शिक्षा एवं उपाय का नाम योग है। जो योगी होता है वही आत्मज्ञ होता है। वह निर्भय हो जाता है, क्योंकि भय तो मात्र एक मानसिक स्थिति है, ग्रंथि है। योग की यह स्थिति गृहस्थों को भी प्राप्त होती है।

अब प्रश्न उठता है, क्या मनुष्य इच्छा-रहित बन सकता है? बौद्धों का मत है कि इच्छा से ही दु:ख की उत्पत्ति होती है, लेकिन गीता कहती है कि इच्छा कर सकते हो। जिस प्रकार अनेक नदियाँ समुद्र में आकर गिरती हैं, लेकिन समुद्र अपनी मर्यादा को कभी भंग नहीं करता, उसी प्रकार कामनायें उठ सकती हैं, पर उसका असर योगी पर नहीं पड़ता, जैसे मजबूत देह वाला मौसम के प्रभाव को आसानी से बर्दाश्त कर लेता है। जो कामनाओं को पी जाता है, वही योगी है। संसार में कर्मयोगी इच्छाओं के बीच आघातरहित बनकर रहता है। योगी कामनायें करता है, उसके अनुकूल कर्म भी करता है और कर्मफल को हँसकर भोग भी लेता है। फल का असर उस पर नहीं होता। लेकिन भोगी फल के प्रभाव से प्रभावित होता है। मन के इसी स्वभाव को सुधारने के लिये उचित शिक्षा की आवश्यकता है। यह होता है हठयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग और राजयोग के द्वारा।

शांति और आनन्द की प्राप्ति के लिये मनुष्य कर्म तो करें, परन्तु कर्मफल के आघात से अपने को बचायें। कर्म-मार्ग में रहकर कुशलतापूर्वक कर्म करते हुए कर्मों से उत्पन्न होने वाले आघातों से उसे बचना है।

अब प्रश्न उठता है, यह हो कैसे? इसके क्या उपाय हैं? इसका उत्तर हमें गीता देती है। भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को योग में स्थिर रहकर कर्म करने का उपदेश देते हैं। जो योग में स्थिर रहकर कर्म करता है, वह बंधन में नहीं बंधता। वह बंधन-मुक्त हो जाता है। ठीक इसके विपरीत भोगी कर्मफल के बंधनों से बंधा रहता है। योगी का मन मजबूत होता है, भोगी का कमजोर। योग से मोक्ष की प्राप्ति होती है और भोग से रोग की।

कर्मयोग एवं ध्यानयोग का समन्वय

मनुष्य की चेतना का एक पक्ष होता है बहिरंग और दूसरा अंतरंग। जब बहिरंग चेतना प्रबल होती है और अंतरंग चेतना नहीं रहती तो उसको कहते हैं संसार, प्रपंच या दुनिया। दूसरी है अंतरंग चेतना, उसको कहते हैं आलोक या ईश्वर चेतना। संसार और आलोक, हमारे अन्दर ये दो चेतनायें हैं।

मनुष्य संसार में रहता है और नित्य-निरन्तर जागते हुए किसी भी अवस्था में उसको बाहर की जानकारी होती जाती है। जब वह ध्यान में बैठता है तब भी उसका मन बहिर्मुख रहता है। प्रयत्न करने पर भी बाहर के अनुभव छूट नहीं पाते। तब वह जबर्दस्ती ध्यान करता है तो एक शून्य स्थिति में चला जाता है, जहाँ उसको न अपनी जानकारी रहती है, न संसार की। ध्यान में उस अवस्था को प्राप्त करना है जहाँ अंतरंग चेतना पूर्णिमा के चन्द्रमा के प्रकाश की तरह व्याप्त हो जाय और क्षण मात्र के लिये बाहर के आदमी की, इस लौकिक रंगमंच पर नाटक करने वाले आदमी की, इन्द्रियों के सम्पर्क में रहने वाले आदमी की जानकारी न हो। उसको हम मृत्यु कहते हैं। वह शरीर की

मृत्यु नहीं, बहिरंग चैतन्य की मृत्यु है। हाँ, यह स्थिति कठिन है, यह उतनी सरल नहीं जितनी आसानी से हम यहाँ पर बोल रहे हैं।

मैं हमेशा लोगों से कहता हूँ कि जिसने वह अवस्था प्राप्त कर ली है, जिसमें यह नाटक करने वाला न रहे, केवल नाटक का सूत्रधार रहे, वह या तो भगवान है या भगवान के समकक्ष। उसमें और ईश्वर में कोई अन्तर नहीं। वह बहुत ऊँची स्थिति है और उसी स्थिति को प्राप्त करने के लिये मैं समझता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति को प्रयत्नशील रहना चाहिये। आज तुम उसको प्राप्त नहीं कर सकोगे, हो सकता है इस जन्म में भी वह प्राप्त न हो। किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि आज हमको प्रयत्न शुरू नहीं करना है। हम यदि आज प्रयत्न करेंगे तो इस जन्म में नहीं तो आगामी जन्म में निश्चित रूप से यह पूर्ण होगा और मनुष्य जीवन की पूर्णता भी यही है।

आधुनिक विज्ञान की परिभाषा में जब पदार्थ अपने स्वरूप से तिरोहित हो जाता है, तब पदार्थ का स्वरूप नष्ट होता है। तब उसमें से असीमित ऊर्जा प्रकट होती है। उसी प्रकार यदि हम अपने को पदार्थ मानें और अपने स्वरूप से, अपनी चेतना से मुक्त हो जायें तो हम भी शक्ति के स्त्रोत बन सकते हैं, इसमें दो मत नहीं।

प्रत्येक व्यक्ति ध्यान के द्वारा इस पदार्थमय तत्त्व से हटकर आत्म-तत्त्व की उच्च गरिमा को प्राप्त कर सकता है। हम सब संसार में रहने वाले और दैनिक जीवन से जूझने वाले लोग हैं। हम इन्द्रियों और मन की आदतों और वासनाओं से जूझते रहते हैं। हमलोगों के मन में अपराध की भावना भर दी गई है और आध्यात्मिक जीवन तथा लौकिक जीवन के दो वर्ग बना दिये गए हैं। गीता इसको स्वीकार नहीं करती है। योग वाशिष्ठ इसको स्वीकार करता नहीं। राम या कृष्ण के जीवन ने इसको स्वीकार नहीं किया है, याज्ञवल्क्य ऋषि के जीवन ने भी नहीं। जो दस हजार स्वर्ण मंडित गायों को हाँकने की क्षमता रखते थे, उनको आप क्या कहेंगे?

लौकिक जीवन भोग के लिये है और आध्यात्मिक जीवन मोक्ष के लिये, जो ऐसा मानते हैं उनकी मान्यता गलत है। गीता में तो स्पष्ट कहा है – इस मार्ग से जो प्राप्त हो सकता है, वह उस मार्ग से भी प्राप्त हो सकता है। संसारी और संन्यासी – ये आप लोगों ने दो वर्ग बना दिये हैं। आप लोग कहते हो, 'हम संसारी आदमी हैं, हमें सब चीजों का लाइसेन्स है, छूट है।' हम संन्यासी हैं तो आप लोगों के अनुसार कुछ भी लाइसेन्स नहीं है। होटल में नहीं बैठ सकते,

सिनेमा में भी नहीं जा सकते, एकाध सिगरेट भी नहीं पी सकते, लेकिन आप लोगों को सब लाइसेन्स है। नहीं, यह वर्गीकरण गलत है, क्योंकि जिन लोगों ने ये बातें बतलायीं वे अध्यात्म और धर्म को अच्छी तरह नहीं जानते थे।

मनुष्य जीवन प्रकृति के विकास की लम्बी परम्परा में एक कड़ी है। विकास शृंखला में हम एक कड़ी हैं और वहाँ पर हमारी प्रत्येक इच्छा और प्रत्येक वासना, हमारा प्रत्येक सुख-दु:ख हमें आगे बढ़ाने के लिये एक सोपान है। हम उसका अनुभव करें। हमें दु:ख का, चिंता का अनुभव करना होगा। हमें वासनाओं की जानकारी रखनी होगी। हमें ईर्ष्या और द्वेष की गलियों से होकर गुजरना पड़ेगा। हमें निराशा और विषाद का अनुभव करना होगा। ऐसा करते-करते धीरे-धीरे हम उनको छोड़ते जायेंगे, उनसे मुक्त होते जायेंगे, उनके मालिक बनते जायेंगे। उसी स्थिति को कहते हैं कर्मयोग।

कर्मयोग का मतलब किसी संस्था में जाकर खाली मुफ्त में काम करना नहीं है। हाँ, वह अच्छा है, मगर यह उसकी बहुत सीमित परिभाषा है। कर्मयोग किस तरह से करना चाहिये? नित्य, नैमित्तिक और काम्य – इन तीनों प्रकार के कर्मों को अनासक्ति की भावना रखते हुए जब हम करते हैं तो वह कर्मयोग हो जाता है। इसी कर्मयोग की सिद्धि बहुत कठिन है। हम अपने दैनिक कर्मों को, अपने दैनिक जीवन, विचारधारा और सम्पर्कों को या उनसे उत्पन्न होने वाली प्रतिक्रियाओं को किस प्रकार ग्रहण करें?

किसी व्यक्ति के घर में दुर्घटना हो जाती है, दु:ख आ जाता है तो हम वहाँ जाते हैं, सबको समझाते हैं। फिर हमारे घर में दुर्घटना हो जाती है। उस समय हम अपने को समझाना भूल जाते हैं। क्यों? इसलिये कि उस घटना के हम मालिक हैं और तुम्हारे यहाँ जो दुर्घटना या दु:ख हुआ था उसका स्वामित्व मेरा नहीं था, मैं तो उसका द्रष्टा था। आज जब मुझे कष्ट हो रहा है, मैं उसका स्वामी हूँ, आप उसके द्रष्टा हैं। यही मेरे और आपके दृष्टिकोण में अन्तर है। जीवन के प्रति यह जो द्रष्टा या निरपेक्ष भाव है, यह कैसे आयेगा? क्या यह एक बौद्धिक प्राप्ति है? नहीं। ज्ञान से, साधनाओं से अपने अन्दर कुछ विशिष्ट भावनाओं का विकास होता है। एक समझ आ जाती है, एक ज्ञान अपने अन्दर उत्पन्न होता है जिसके फलस्वरूप जन्म-मृत्यु का अर्थ, सुख-दु:ख का अर्थ, अवनति-उन्नति का अर्थ एक नये परिप्रेक्ष्य में हमको मिलता है। हम महात्माओं के जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं को पढ़ते हैं तो बड़ा बोध होता है। एक-एक से नवीन प्रेरणा मिलती है।

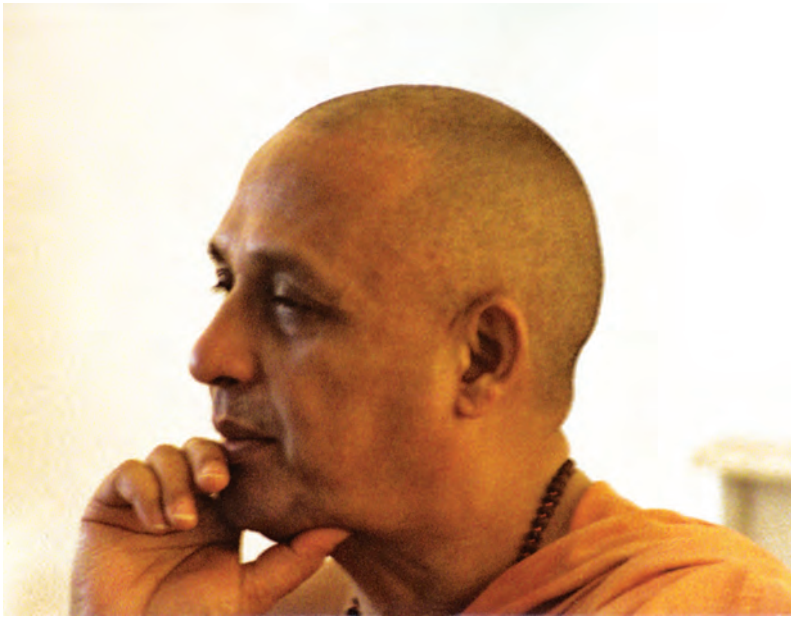

कर्मयोग ध्यानयोग का अधिकार प्रदर्शक है, उसका पूरक है। ध्यान करते जाओगे तो कर्मयोग का अधिकार प्राप्त होगा और कर्मयोग करते जाओगे तो ध्यान पर अधिकार प्राप्त होगा। कर्मयोगी का ध्यान फर्स्ट क्लास लगता है और ध्यानयोगी का कर्मयोग भी फर्स्ट क्लास होता है। दोनों एक-दूसरे के पूरक हो जाते हैं। कर्मयोग गलत होगा तो ध्यान के समय दिमाग उखड़ जायेगा। एक मिनट के लिये भी मन बैठता नहीं है, ध्यान करते हो तो फिर मन भूत और भविष्य में चक्कर काटने लगता है। इन्द्रियाँ भी बाह्य विषयों की लोलुपता से कभी संतुष्ट नहीं होतीं। मन के इस भटकाव को स्वीकार करके लाते हैं, फिर वहीं चला जाता है। क्यों? इसलिए कि कर्मयोग पूर्ण नहीं हुआ। कर्मयोग करने का तरीका हमें मालूम नहीं है।

जीवन के विकास में ध्यान और कर्मयोग का बराबर स्थान है तथा दोनों में अन्योन्याश्रित संबंध है। हमें दोनों में कुशलता लानी होगी, दोनों को साथ-साथ नियमित अभ्यास में डालना होगा। तब हम अपने व्यक्तित्व को सन्तुलित रूप से विकसित कर सकते हैं। जब हम अपने पूर्वजों को देखते हैं, अतीत की सभ्यता को देखते हैं तो पाते हैं कि भारत ने योग को मात्र एक दर्शन नहीं समझा बल्कि हमेशा जीवन में उतारा है।

कर्मयोग और चित्त की एकाग्रता

साधकों के मन में प्राय: प्रश्न उठता है कि योग आखिर कहते किसे हैं? क्या कर्म त्याग को, गृह त्याग को, जटा बढ़ाकर साधु बनने को या हठयोग की क्रियाओं को करने का नाम योग है? इसकी परिभाषा क्या है? आजकल तो जो व्यक्ति जमीन के अन्दर जड़ समाधि लेता है, तेजाब पीता है, हठयोग की कठिन क्रियाओं को करता है या भविष्य बताता है उसे ही योगी समझा जाता है। ऐसी परिस्थिति में साधारण व्यक्ति को तो लगेगा कि योग की कोई एक परिभाषा है ही नहीं, लेकिन यह भ्रम है। गीता में भगवान कृष्ण की यह वाणी, 'अर्जुन! योग में स्थिर होकर कर्म कर', हमें वास्तविक परिभाषा की ओर इंगित करती है।

जिस प्रकार दिनभर शारीरिक श्रम करने वाला मजदूर रात्रिकाल में आराम करता है और शरीर को पुन: कार्य करने योग्य बनाता है, उसी प्रकार मनुष्य का मन भी थकता है। शरीर की ही तरह उसके भी उपचार की आवश्यकता होती है। यदि मन में अनावश्यक अधिक विचार आएँ या वह विचारशून्य हो जाए, तो दोनों ही अवस्थाओं में उसका बुरा हाल होता है। शरीर के ही जैसा मन का भी नियम है। जिस तरह अनियमित जीवन से मनुष्य का शरीर बीमार पड़ जाता है, ठीक उसी तरह अनावश्यक बातों को मन में स्थान देने से वह बीमार और कमजोर पड़ जाता है। उसे निरोग रखने के लिए स्वस्थ आदतों एवं स्वस्थ विचारों को ही प्रश्रय देना चाहिए।

योग में स्थिर रहकर कर्म करना चाहिये। इसके कुछ दिन के लगातार अभ्यास से मनुष्य का मन स्थिर हो जाता है, उसमें शक्ति आने लगती है। हठयोग के सिवा इसके और भी कई अंग हैं, जिनका अभ्यास आवश्यक है। वे हैं भक्तियोग, राजयोग एवं ज्ञानयोग। कोई भी कर्मयोगी बिना इन सब का सहारा लिए, सही मायने में कर्मयोगी नहीं बन सकता। कर्मयोगी केवल बाहर ही कर्म नहीं करता, बल्कि घर में भी अपना नियमित कार्य करता है और साथ-ही-साथ भक्तियोग, राजयोग और ज्ञानयोग का भी अभ्यास करता है।

कर्म-मार्गी और कर्म-योगी में अन्तर है। साधारण लोग जनता की नि:स्वार्थ सेवा को ही कर्म-योग की संज्ञा दे बैठते हैं। कोई व्यक्ति यदि निष्काम भाव से किसी की सेवा करता है तो लोग उस कार्य को भी कर्मयोग कह बैठते हैं। लेकिन ऐसा करने से कोई जरूरी नहीं कि वैसे नि:स्वार्थ सेवक का मन भी

मजबूत हो। उसके मन पर भी सुख-दु:ख, लाभ-हानि, जय-पराजय का प्रभाव पड़ सकता है। यह कहा जा चुका है कि जो व्यक्ति अपने दैनिक कार्यों को कुशलतापूर्वक करते हुए भक्तियोग, राजयोग एवं ज्ञानयोग का अभ्यास करता है, उसके मन पर आघातों का प्रभाव नहीं पड़ता। अनासक्ति कर्ममार्गी को कर्मयोगी बनाती है। अनासक्ति से तात्पर्य यहाँ कर्म से अनासक्ति नहीं और न कर्मफल से। वस्तुत: कर्मफल की आशा से विरति ही सच्ची अनासक्ति है।

कुछ लोग अनावश्यक ही सोचते हैं कि योग का अभ्यास कम उम्र वालों को नहीं करना चाहिये। जब मनुष्य बूढ़ा हो जाए, घर-गृहस्थी से फुर्सत मिल जाए, तब इसका अभ्यास करना चाहिये। किन्तु यदि आप इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो यह तर्कहीन मालूम पड़ेगा। दवाई की आवश्यकता आखिर रोगी को पड़ती है न? योग का अभ्यास तो प्रत्येक व्यक्ति के लिए है। वयस्क व्यक्ति तो अनुभवी होते हैं, उनकी विचार-शक्ति प्रबल हो जाती है, लेकिन जवान व्यक्ति प्राय: अनुशासनहीन होता है। ऐसी स्थिति में योग की आवश्यकता तो उसे ही अधिक है। योग आज मनुष्य मात्र की आवश्यकता है।

लोग समझते हैं कि योग की आवश्यकता मोक्ष, समाधि या निर्वाण के लिए ही है। पर ऐसी बात नहीं। मनुष्य अपने दैनिक कार्यों को कुशलता एवं निपुणतापूर्वक करने के लिए योग की मदद ले सकता है। जो योग में सिद्ध

होने लगता है, उसका आत्मबल मजबूत हो जाता है। उसे किसी प्रकार का भय नहीं होता। वह जो कार्य करता है, ठीक ढंग से होता है।

कभी-कभी ऐसी भी शिकायतें सुनने में आती हैं कि कोई योग का अभ्यास करता है, फिर भी उसका मन कमजोर है, सिर भारी रहता है, शरीर बोझ जैसा मालूम पड़ता है, मस्तिष्क में तनाव रहता है। यदि योगाभ्यासी की स्मरण-शक्ति या धारणा-शक्ति कमजोर हो रही है अथवा मन पर छोटी-छोटी बातों का प्रभाव लगातार पड़ रहा है तो समझना चाहिए कि योग का अभ्यास ठीक ढंग से नहीं हो रहा है। ध्यान में चित्त को हल्का करने की कोशिश होनी चाहिए।

मनुष्य अपना दैनिक कार्य करते हुए भी योग की सिद्धि प्राप्त कर लेता है। योग अभ्यास के लिए कार्यों का त्याग आवश्यक नहीं। यदि कोई सिर्फ सुबह दो घण्टे और रात्रि को एक घण्टा योग का अभ्यास करे तो उस पर कर्म के क्लेशों का असर नहीं पड़ेगा। इसमें चित्त को एकाग्र अर्थात् एक जगह स्थिर करना आवश्यक है। यह सब के लिए अधिक देर सम्भव नहीं है, यदि आप केवल पाँच मिनटों तक चित्त को एकाग्र कर सकें तो समझें कि आपने बड़ी शक्ति पा ली है। यदि पाँच मिनट चित्त एकाग्र हो जाए तो तीन घण्टों में नींद की कमी पूरी हो सकती है। लेकिन यह सब तब सम्भव है, जब इसका रोज अभ्यास किया जाए। रात को सोते समय और सुबह जगने पर इसका अभ्यास करना चाहिए। ऐसा करने से स्फूर्ति आती है।

तन्त्र शास्त्र में एक प्रकरण आया है, जिसमें भगवती पार्वती ने भगवान शंकर से चित्त को एकाग्र करने की विधि पूछी है। तब भगवान शंकर ने भगवती पार्वती को तन्त्र के विषय में बतलाया। तन्त्र क्या है? यह एक तरीका है, विधि है। भगवान शंकर ने चित्त को एक जगह स्थिर करने को ही योग कहा है। उन्होंने पार्वती जी को इसकी एक लाख पच्चीस हजार विधियाँ बतायी हैं। इसी को तन्त्र कहते हैं। हमलोग इसे आज राजयोग के नाम से पुकारते हैं।

चित्त क्या है? आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने चित्त को 'Psyche' के नाम से पुकारा है। उनके अनुसार इसके तीन स्तर होते हैं – चेतन, अवचेतन, और अचेतन। ये चेतना के तीन स्तर या धरातल हैं। वेदान्त में चेतना के चार स्तर माने गये हैं – जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और चौथी अवस्था है तुरीय या समाधि की। इसी चौथी अवस्था के बारे में कहा गया है, '*संतों मैंने चौथा पद पाया*'।

जाग्रत अवस्था उसे कहते हैं जिसमें ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, तन्मात्राएँ, चित्त, मन, बुद्धि और अहंकार, कुल उन्नीस तत्त्व जीवात्मा के साथ कार्य करते हैं। स्वप्न वह अवस्था है जिसमें उपरोक्त सभी भाग क्रियावान् नहीं रहते, केवल उनके संस्कार ही कार्य करते हैं। सुषुप्ति में न तो इन्द्रियाँ काम करती हैं, न ही उनके अनुभव। केवल एक आनन्द का अनुभव रहता है। सुख या दु:ख, किसी का अनुभव नहीं रहता। इसमें चेतना लय अवस्था को प्राप्त होती है, लेकिन उस अवस्था में भी चित्त चेतन रहता है। जब आदमी नींद से जगता है तो उससे पूछिए कि उसने कैसा अनुभव किया, तो कहेगा कि आनन्द का। तो फिर प्रश्न उठता है कि वैसी अवस्था में जब उसकी सब इन्द्रियाँ सो रही थीं तो आनन्द का अनुभव कौन कर रहा था? अनुभव करने वाला कोई था तब तो। उसी को चित्त कहते हैं।

जिस चित्त को आप नियन्त्रण में लाना चाहते हैं, वह हमारे भीतर विचारों के रूप में, चेतना के रूप में विद्यमान है। जब वह नियन्त्रण में आ जाता है तब सुख-दु:ख आदि का अनुभव समाप्त हो जाता है। लेकिन ऐसा क्यों होता है? इसलिए कि अनुभव करने वाला ही जब नियन्त्रण में है तो अनुभव करेगा कौन! इसे चित्त की एकाग्रता कहते हैं और ऐसे ही व्यक्ति को योगी कहते हैं।

उपनिषदों में कहा गया है कि जब हृदय की ग्रन्थियाँ दूर हो जाती हैं तब सारे संशय भी दूर हो जाते हैं। जो योग का अभ्यास करता है, वह मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है। इसका अर्थ हुआ कि मृत्यु के भय पर विजय प्राप्त कर लेता है।

उपनिषदों ने यह भी कहा है कि योगाभ्यासी को तीनों लोकों का ज्ञान होता है। मतलब यह कि उसे भू:, भुव: एवं स्व: के सूक्ष्म लोकों का ज्ञान हो जाता है। चेतना चारों आयामों में मालूम पड़ती है। योग का अभ्यास करने वाले को सब सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। उसे किसी वस्तु के लिए रोना नहीं पड़ता। योग जीवन का कल्याण करने वाला है। जो कोई व्यक्ति योग के इस कल्याणकारी मार्ग पर जायेगा, वह दुर्गति को प्राप्त नहीं होगा। योग कदापि व्यर्थ नहीं जाता। योगाभ्यासी चाहे जिस रूप में पुनर्जन्म ले, तो भी योग करता रहेगा। लोग चाहें या न चाहें, एक-न-एक दिन योग करना ही होगा। जब तक वृत्तियाँ अन्तर्मुख नहीं होतीं, तब तक शान्ति मिलने वाली नहीं।

वृत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं, अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी। बहिर्मुखी वृत्ति देखती एवं सुनती है, लेकिन अन्तर्मुखी वृत्ति केवल अपने अन्दर ही अनुभव करती है। अन्तर्मुखी वृत्ति के बारे में ही कहा गया है कि '*बिनु पद चलै सुनै बिनु काना।*' अन्तर्मुखी वृत्ति से चैन मिलता है और बहिर्मुखी से तनाव। जब भी आप कार्य करते-करते थक जायें तो केवल दो मिनट अर्थात् बीस बार उज्जायी का अभ्यास करें, फिर काम में लग जाएँ। आपको चैन का अनुभव होगा। यह मनुष्य की कार्य-क्षमता को बढ़ाता है, इन्द्रिय-विक्षेप को दूर करता है, मानसिक भावयुक्त व्यक्तित्व को कम करता है।

योग का सामाजिक जीवन में व्यावहारिक प्रयोग एवं उपयोग है। भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को लड़ाई के मैदान में जो गीता सुनाई, उसका यही प्रयोजन था। यह गीता उन्होंने न तो साधु-संन्यासियों को सुनाई और न ही धर्मराज युधिष्ठिर को। योग का ज्ञान आवश्यक है ताकि हमारा कर्म उन्नत हो, चित्त एकाग्र हो, मन संतुलित हो, सम भावना हो और हम दु:ख से प्रभावित न हों। आघातों से बचने की क्षमता प्राप्त हो, जीवन में बहुमुखी प्रतिभा का विकास हो, सफलता मिले तथा जीवन कल्याणमय हो।

यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि क्या मनुष्य कामनारहित हो जाए? गीता व्यक्ति को कामनारहित होने के लिए नहीं कहती। कर्मयोगी के लिए कामना बन्धन नहीं। बन्धन तो आसक्ति है, अविद्या है। आसक्ति यश के प्रति हो, देह के प्रति हो, त्याग के प्रति हो, भगवद्भक्ति के प्रति हो या स्वयं ब्रह्म के प्रति हो, वह आसक्ति ही है और बन्धन का कारण भी। हथकड़ी चाहे सोने की हो या लोहे की, बांधने का काम एक-सा ही करेगी। अनासक्त भाव से कर्म करने वाला मनुष्य कर्म करते हुए भी अकर्ता रहता है। सुख-दु:ख भोगकर भी अभोक्ता रहता है।

जीवन और मृत्यु

अकाल मृत्यु क्या होती है? इसे रोकने का कोई उपाय है?

यह सत्य है कि निश्चित समय के पहले भी आदमी चला जाता है। ऐसी घटनाएँ अधिक नहीं हैं। जब निश्चित समय के पहले आदमी चला जाता है तो वह 'अकाल मृत्यु' मानी जाती है। यह 'असमय मृत्यु' से अलग है। जैसे मृत्यु का औसतन समय है 80 वर्ष, मगर किसी की मृत्यु 25 साल या 15 साल में ही हो जाय तो कहते हैं, समय के पहले वह मर गया। यह असमय मृत्यु है, मगर वह भी निश्चित थी कि उसको 25 या 15 साल में जाना चाहिए। मृत्यु का समय जल्दी अथवा देरी में या समय पर तो निश्चित होता ही है, परन्तु इस निश्चित अवधि के अलावा भी दो चीजें हैं, एक अकाल मृत्यु और दूसरी दीर्घायु।

अकाल मृत्यु के बारे में सब पूछते हैं, लेकिन दीर्घायु के बारे में कोई नहीं पूछता। मान लो किसी आदमी की निश्चित आयु 75 साल, इतने दिन, इतने मिनिट और इतने सेकेण्ड है। परन्तु उसकी उम्र में दस या पन्द्रह साल वृद्धि हो जाती है तो उसको हमलोग कहते हैं दीर्घायु। पंडित बोलते हैं न 'दीर्घायु

भवः'। जब तुमको 75 साल में ही मरना है तो क्यों आशीर्वाद देना? अगर आयु वास्तव में निश्चित अवधि से बढ़ जाय तो उसे दीर्घायु कहते हैं। उसी प्रकार मान लीजिए किसी की 35 साल में मृत्यु लिखी है और वह 25 साल में मर गया तो उसको अकाल मृत्यु कहते हैं। अब कौन-सी मृत्यु अकाल मृत्यु है और कौन-सी असमय मृत्यु है, यह जानना बड़ा मुश्किल है। हाँ, इतना जरूर है कि ऐसी घटनाएँ बहुत कम होती हैं। मैं समझता हूँ कि लाखों-करोड़ों में कोई एक अकाल मृत्यु की घटना होती है। यह अंतर समझना होगा। निश्चित मृत्यु अल्पायु में भी होती है और ज्यादा उम्र में भी, मगर जो मृत्यु निश्चित अवधि के बाद होती है उसे दीर्घायु कहते हैं और उससे कम को अकाल मृत्यु कहते हैं। उसे रोकने के उपाय को अभी छोड़ो क्योंकि वह तुम्हारे बस के बाहर है।

पारिवारिक और मानसिक उलझन से तंग आकर बहुत-से लोग आत्महत्या के बारे में सोचते हैं। क्या ऐसा करना उचित है? अगर नहीं तो इसका क्या उपाय है?

पारिवारिक उलझन से मानसिक उलझन पैदा होती है। अगर आप पारिवारिक बंधन में न भी फंसो तो भी यह उलझन आती ही रहती है, क्योंकि उलझन परिवार में नहीं है, यह तो मनुष्य के मन में है। बहुत-से लोगों का मन बड़े ही उलझन में रहता है, उसमें कई प्रकार की चीजें छिपी रहती हैं। वह ठीक ढंग से नहीं सोचता है। वह छोटी-मोटी चीजों को, जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं को विस्तृत करके सोचता है।

तुम्हारे परिवार में अगर उलझन है तो रहने दो। आखिर कहाँ उलझन नहीं हैं? परिवार में उलझन है, एकान्त में उलझन है, साधनात्मक जीवन में उलझन है, नौकरी करने में उलझन है। सभी जगह उलझन-ही-उलझन है। भगवान शंकर या भगवान विष्णु के परिवार को देख लो, उलझन-ही-उलझन है। यदि परिवार की उलझनों से मनुष्य आत्महत्या करने के बारे में सोचता है तो इस मानसिक अवस्था से निपटना चाहिए, और उसका एक ही उपाय है। समझदार व्यक्ति को सर्वप्रथम यह सोचना चाहिए कि पारिवारिक उलझन की शुरूआत कहाँ से है? क्या यह सामाजिक उलझन है, आर्थिक उलझन है, व्यवहार की उलझन है, अपनी कमी है या परिवार में दूसरों की कुछ कमी है? इन सब चीजों को विशाल परिप्रेक्ष्य में देखने के बाद यह मालूम पड़ता है कि मनुष्य का अपना मन निष्क्रिय है, कुण्ठित हो गया है।

बड़े-बड़े योगियों और संत-महात्माओं की कहानियाँ आती हैं, कबीर के घर की कहानी है, आखिर कितनी उलझन रही होगी। प्लेटो के गुरु, सुकरात यूनान के एक महान् विचारक थे। उनके जीवन वृत्तान्त पर बहुत-सी सुन्दर-सुन्दर पुस्तकें छप चुकी हैं। जब वे खरीददारी के लिए बाजार जाते थे तो किसी के भी साथ बैठकर ब्रह्मज्ञान के बारे में बातें करने लग जाते थे। उसकी पत्नी घर में बैठे-बैठे परेशान हो जाती थी, बाहर जाकर देखती तो महाराज वहाँ सत्संग कर रहे हैं! उनको दो झापड़ लगाती और बोलती, 'चलो! पहले सामान लाओ।' ऐसे उच्च सन्त का भी यह हाल था!

सुकरात साधु थे, उनका विषय था ब्रह्म के बारे में बात करना, जो वे करते थे। उनके विरोधी भी बहुत थे, क्योंकि सत्य और ब्रह्म का पथ तो कंटकाकीर्ण होता ही है। धर्मगुरु भी उनका विरोध करते थे, लेकिन सन्त मुसीबतों को ईश्वर की परीक्षा और साधना समझ कर सहन कर लेते हैं। उनको तो जेल में डाल दिया गया और जहर देकर मार दिया गया। वे कभी बाजार में बैठे बातें करते होते तो उनकी पत्नी पानी का घड़ा लाकर उनके सर पर डाल देती, किन्तु वे अपूर्व धैर्य के साथ उस अपमान को सहज ही पचाकर बोलते, 'बादल गरज रहा था, अब बरस गया।'

अगर उनका स्वभाव आपके जैसा होता तो वे भी आत्महत्या कर लेते। यह घोर अपमान उनके लिए बहुत बड़ी उलझन बन सकती थी। अगर एक औरत अपने पति को बाजार में सबके सामने झापड़ मारे तो आप जैसे लोग जहर खाकर मर जायेंगे। कोई भी सामान्य व्यक्ति यही करेगा, मगर वे तो एक मर्मज्ञ व्यक्ति थे, जिनके पास सहन करने की शक्ति थी। बहुत सूक्ष्म समझदारी की शक्ति थी उनके पास।

इसलिए पारिवारिक व्यक्तियों को बड़ा ही विशाल दृष्टिकोण अपनाना होगा। उन्हें सभी परिस्थितियों से ऊपर उठकर अपनी मानसिक विषमताओं या असमर्थताओं पर विवेक और बुद्धि द्वारा विजय प्राप्त करनी होगी। अगर एक बच्चा बीस किलो वजन का बोरा नहीं उठा सकता है तो और ज्यादा बोझ देने पर कैसे संभालेगा? उसे स्वीकार करना ही होगा कि मेरी बुद्धि, मेरा मनोबल और आत्मबल कमजोर है। उलझनों का यही निदान है कि आप किसी भी उपयुक्त विधि से आत्मबल एवं प्रज्ञा का विकास करें।

– 23 जुलाई 1983, रायपुर

दैनिक जीवन का योग – कर्मयोग

कर्मयोग वह योग है जिसके अन्तर्गत जीवन के समस्त कर्म, यहाँ तक कि सम्पूर्ण जीवन आ जाता है। कर्मयोग के सम्बन्ध में चर्चा करते समय एक महान् ग्रंथ, गीता का उल्लेख अवश्य होना चाहिए। इस छोटी-सी पुस्तक में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कर्मयोग की एक स्पष्ट व्याख्या बतायी है। महाभारत युद्ध प्रारम्भ होने से पहले अर्जुन निराश, व्याकुल और हताश हो गया था। वह सोचने लगा, 'जब सभी चीजों का अन्तिम परिणाम विनाश ही है तो जीने से, कर्म करने से क्या लाभ? क्यों न हम सब कुछ त्याग दें? जब मनुष्य के कर्मों ने ही उसे संसार से बाँध रखा है, तब फिर मनुष्य कर्म करे ही क्यों?' इस तरह के निराशपूर्ण और दुःखी विचारों से उसका मन उद्वेलित हो रहा था। वह लड़ाई छोड़ देने को तैयार था। सौभाग्यवश उसके सारथी भगवान श्रीकृष्ण थे। श्रीकृष्ण ने अर्जुन के सामने जीवन के रहस्यों का उद्घाटन किया और कर्मयोग की व्याख्या की।

कर्म बन्धन है या मुक्ति का कारण?

अनादि काल से दुनिया के हजारों लोग इस भ्रम में हैं कि कर्म के बजाय कर्म का त्याग करके ही कोई मुक्ति या निर्वाण को प्राप्त कर सकता है। वे सोचते हैं कि कर्म बन्धन है जो उन्हें जीवन-मरण के इस चक्र से मुक्त नहीं होने देता और इसका त्याग कर वे निर्मुक्त हो जायेंगे, किन्तु गीता में स्पष्ट कहा है कि तत्त्वज्ञान के लिए कर्मों को त्यागना कदापि आवश्यक नहीं है। जीवन का कोई भी कर्म अध्यात्म अथवा योग का विरोधी नहीं है। कर्म स्वयं में बुरा नहीं है, बल्कि कर्म के प्रति व्यक्ति का दृष्टिकोण और भावना ही कर्म से उत्पन्न विकारों के लिए दोषी है। जब आप साधारण रूप से मन और शरीर द्वारा कोई भी कार्य करते हैं तो वह कर्म है, किन्तु जब आप कर्म को इस कौशल से करते हैं कि उससे जुड़े फल या अन्य विकार उत्पन्न नहीं होते तब वह कर्मयोग बन जाता है।

जीवन के प्रति साधारण दृष्टिकोण रखते हुए आप जो भी कर्म करते हैं वह बन्धन स्वरूप ही होता है। यह बन्धन को बढ़ाता है और अवचेतन मन के संस्कारों को घना करता है, क्योंकि आपके द्वारा किया गया प्रत्येक कर्म, चाहे वह शारीरिक हो या मानसिक, आपके मन पर असर छोड़ता है जो आपके व्यक्तित्व का अंग बन जाता है। यह आपके व्यवहार और मनोवैज्ञानिक ढाँचे

को प्रभावित करता है। आपकी सभी क्रियाएँ, प्रतिक्रियाएँ और विचारधाराएँ आपके द्वारा किये कर्मों पर आधारित हैं। कर्म से जुड़ाव मानसिक अवरोध और सनक उत्पन्न करता है। फलस्वरूप मनुष्य चेतन और अवचेतन, दोनों स्तरों पर कष्ट भोगता है।

मानसिक और आध्यात्मिक स्तरों पर निर्मुक्त रहने के लिए यह परमावश्यक है कि मनुष्य कर्म करने की सही विधि जाने। भक्तियोग का मार्ग, जिसमें आप आराधना-प्रार्थना करते हैं, आपको मानसिक शांति, एवं स्थिरता प्रदान करता है। राजयोग का मार्ग, जिसमें आप धारणा और ध्यान करते हैं, आपको एकाग्रता तथा मनोबल प्रदान करता है और ज्ञानयोग का मार्ग जिसमें आप आत्म-विश्लेषण करते हैं, आपको वास्तविकता का स्पष्टतर ज्ञान देता है, किन्तु कर्मयोग के बिना ये तीनों ही मार्ग अधूरे हैं।

कर्म और उसका फल

अपने जीवन में आप जो भी काम करते हैं वे केवल कर्म ही रह जाते हैं, कर्मयोग नहीं बन सकते। जब कर्म आसक्ति और स्वार्थ के साथ किया जाता है तो वह कर्म रहता है, लेकिन जब उसी कर्म को निःस्वार्थ भाव से बिना किसी आसक्ति के और पूर्ण सजगता के साथ किया जाता है तो वह कर्मयोग बन जाता है। अगर आप बगीचे में पौधे लगाते हैं और रात को सभी पौधे ठण्ढ से मर जाते हैं तो आप निराश हो जाते हैं। आपका दिल टूट जाता है क्योंकि

आपकी योजना, आपके सारे प्रयास पूर्णतः विफल हो गये। यह निराशा आपके सम्पूर्ण मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व को प्रभावित करती है जिसके कारण आपके परिवार, समाज एवं स्वयं के साथ व्यवहार और सम्बन्ध प्रभावित होते हैं। निराशा के प्रभाव आप अच्छी तरह जानते हैं, लेकिन इसी दुर्घटना को एक बुद्धिमान व्यक्ति दूसरे ढंग से झेल सकता है। बुद्धिमानी और समझ के साथ वह दुबारा प्रयास करता है। वह परेशान नहीं होता, उसका दिल नहीं टूटता, वह जानता है कि वह इस छोटी-सी समस्या को आसानी से जीत सकता है।

कर्मयोग का आधार आन्तरिक एवं आध्यात्मिक स्तर पर वैराग्य की एक भावना है। ऐसा कहा जाता है कि कर्म करना पूरी तरह आपके वश और अधिकार में है, किन्तु फल या परिणाम के ऊपर आपका कोई वश नहीं है। आपके प्रत्येक कर्म से तीन प्रकार के फल मिलते हैं। कुछ से शुभ फल प्राप्त होता है, कुछ से अशुभ और अधिकतर से मिला-जुला फल मिलता है। यदि आप अपने जीवन में झाँकें तो आपको मेरी बात की सत्यता का आभास हो जाएगा।

अशुभ फल का असर हमारे जीवन में अधिक होता है। अगर मुझे जीवन में सुख मिलता है तो उससे मुझे निश्चय ही अच्छा लगता है, किन्तु साथ ही अगर जीवन में कोई दुःख आ जाता है तो उसका घाव गहरा होता है और उससे मुक्त होना अत्यन्त कठिन होता है। अगर किसी परिवार में कोई सुखद घटना और दुर्घटना साथ-साथ घटती है तो दुर्घटना का ही मन पर अधिक प्रभाव पड़ता है, सुखद घटना का नहीं। आप ऐसा नहीं कह पाते कि मेरे परिवार में एक मृत्यु हुई है, किन्तु साथ ही एक शिशु भी जन्मा है इसलिए आओ, खुशियाँ मनायें। मानव मस्तिष्क सदा अशुभ फल से अधिक प्रभावित होता है।

ऋषियों के अनुसार हमलोगों को यह जान लेना बहुत आवश्यक है कि प्रत्येक विचार, कर्म और सम्बन्ध से मिला-जुला फल मिलता है। इस जीवन में हम जो भी कर्म करते रहे हैं उनसे वांछित और अवांछित परिणाम प्राप्त होते रहे हैं, या तो साथ-साथ अथवा एक के बाद दूसरा। आप इस प्रक्रिया को रोक नहीं सकते। फिर कर्म के प्रति हमारा दृष्टिकोण कैसा होना चाहिए?

गीता में इस बात पर जोर दिया गया है कि हम सब में कर्म करने का सामर्थ्य और स्वातन्त्र्य है, चाहे वह खेती-बाड़ी करना हो या व्यापार करना या आश्रम खोलना या अन्य कोई कर्म हो, लेकिन फल हमारे हाथ में नहीं है। इसलिए कर्म फल से लगाव नहीं रखना चाहिए, बल्कि स्वयं को अलग रखने का प्रयास करना चाहिए। अगर परिणाम अच्छे हैं तो अच्छी बात है,

किन्तु यदि बुरे हैं तो आपको इससे परे रहना है। अगर आप कर्मयोग की इस विशेष कला में दक्ष हो जाते हैं तो आप बहुत-सी मनोवैज्ञानिक और मानसिक समस्याओं से मुक्त हो जायेंगे।

संस्कारों की भूमिका

हमारे जीवन के कर्म और व्यवहार प्राय: हमारे संस्कारों से निर्देशित रहते हैं। हम जब भी कोई कर्म करते हैं तो एक बीज मन में जम जाता है और इस बीज को संस्कार कहते हैं। हमारी संस्कार-राशि हमारे द्वारा किये गये सभी कर्मों का संग्रह है। एक उदाहरण देता हूँ, आप कर्मयोग पर दिये जा रहे इस प्रवचन को सुन रहे हैं। आप सब यहाँ बैठे हैं, निस्संदेह कर्म कर रहे हैं। अब यह कर्म हमारे मन की गहराई में अपनी छाप बना रहा है और यह छाप अन्ततोगत्वा हमारे मन के अन्य भाग में जाती है, जहाँ वह निष्क्रिय अवस्था में रहती है। यह निष्क्रिय बीजावस्था संस्कार कहलाती है। यही संस्कार या कर्म के बीज बारम्बार सक्रिय होते हैं तथा हमारे व्यवहार, स्वभाव, अनुभवों, अभिलाषाओं एवं हमारे समस्त जीवन को प्रभावित करते हैं।

मेरा आचरण, विचारधाराएँ और प्रतिक्रियाएँ मेरे पूर्व कर्मों के परिणामस्वरूप हैं। मैं क्रोधी स्वभाव का हूँ या खुशमिजाज हूँ, मैं प्रेम करता हूँ या घृणा, मैं व्यापार करना चाहता हूँ या नहीं, मैं अध्यात्म की ओर जाना चाहता हूँ या नहीं, यह मेरे द्वारा किये गये समस्त कर्मों के संस्कारों की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार प्रत्येक वर्तमान कर्म, किसी पूर्व कर्म का प्रतिफल है और साथ-

ही-साथ यह नया बीजारोपण करता है, जो अगले कर्म के लिए जिम्मेवार बन जाता है। यही कर्मों की कड़ी है जो मनुष्य को बाँधती है। मन इसके नियंत्रण में है, इच्छाशक्ति पर इसका प्रभुत्व है तथा यही कर्मों की कड़ी हमारी प्रसन्नता-अप्रसन्नता, सफलता-विफलता और सुख-दुःख के लिए उत्तरदायी है।

इस कड़ी से मुक्त होने का कोई रास्ता तो होना ही चाहिए। यह रास्ता है कर्म योग का, नि:स्वार्थ और अनासक्त कर्म का। गीता में कहा गया है कि जो अपने मन को हर्ष और विषाद में, लाभ और हानि में, प्रशंसा और निंदा में संतुलित रख सकता है उसे कभी दुःख-तकलीफ नहीं होती, किन्तु यह तब तक संभव नहीं जब तक कि वह कर्म के साथ अपने सम्बन्ध के रहस्य को नहीं जान लेता। व्यक्ति को कर्म के साथ अपने सम्बन्ध को तथा कर्म के मन पर पड़ने वाले प्रभाव को अच्छे से समझ लेना है। हम यह सोचते हैं कि कर्म शरीर की क्रिया मात्र है, लेकिन यदि आप कर्म की गहराई में जायेंगे तो समझ पायेंगे कि प्रत्येक कर्म चेतना और मन की अभिव्यक्ति है।

आप लन्दन जाना चाहते हैं या आप व्यापार चलाना चाहते हैं। आप वह कर्म करते हैं और उसमें आप सफल या असफल होते हैं। जो भी होता है, यह सम्पूर्ण प्रक्रिया एक अभिव्यक्ति है। कर्म मनुष्य के अन्दर कार्यरत सूक्ष्म शक्तियों की स्थूल अभिव्यक्ति है। भौतिक धरातल पर कर्म करने से पूर्व आप मानसिक धरातल पर उसे सम्पन्न कर लेते हैं। यह बात याद रखिये, दैनिक जीवन में हम जो भी काम करते हैं, कर्म का यह बाहरी प्रदर्शन मानसिक धरातल पर पहले ही सम्पन्न हो चुका होता है।

इसलिए योग साधकों को एक महत्वपूर्ण बात का स्मरण रखना है। अपने ध्यान, स्वाध्याय, सत्संग और ईश्वर-भक्ति के साथ-साथ उन्हें कर्म के साथ अपने सम्बन्ध को भी समझना है और इस सम्बन्ध की नयी परिभाषा देनी है। अगर आप ऐसा नहीं करेंगे तो पूरी तरह कर्म-बन्धन में जकड़े रहेंगे। आप कभी निर्मुक्त नहीं हो पायेंगे, क्योंकि संसार में आप भले ही सफल होते रहें, लेकिन उसके बावजूद आप असुरक्षाओं से मुक्त नहीं हो पायेंगे, यह असंभव है।

कोई व्यापार शुरू कीजिए और उसे बीस-तीस साल तक करते जाइए। आप भले ही करोड़पति या अरबपति क्यों न बन जायें, लेकिन फिर भी असुरक्षाओं से मुक्त नहीं हो पायेंगे। क्यों? इसलिए कि आपने कर्म के साथ अपने सम्बन्ध को परिभाषित नहीं किया है, और आप हमेशा भयभीत रहते हैं कि कल क्या होगा। अगर भविष्य में आपका व्यापार चौपट हो जाए तो आप नहीं जानते

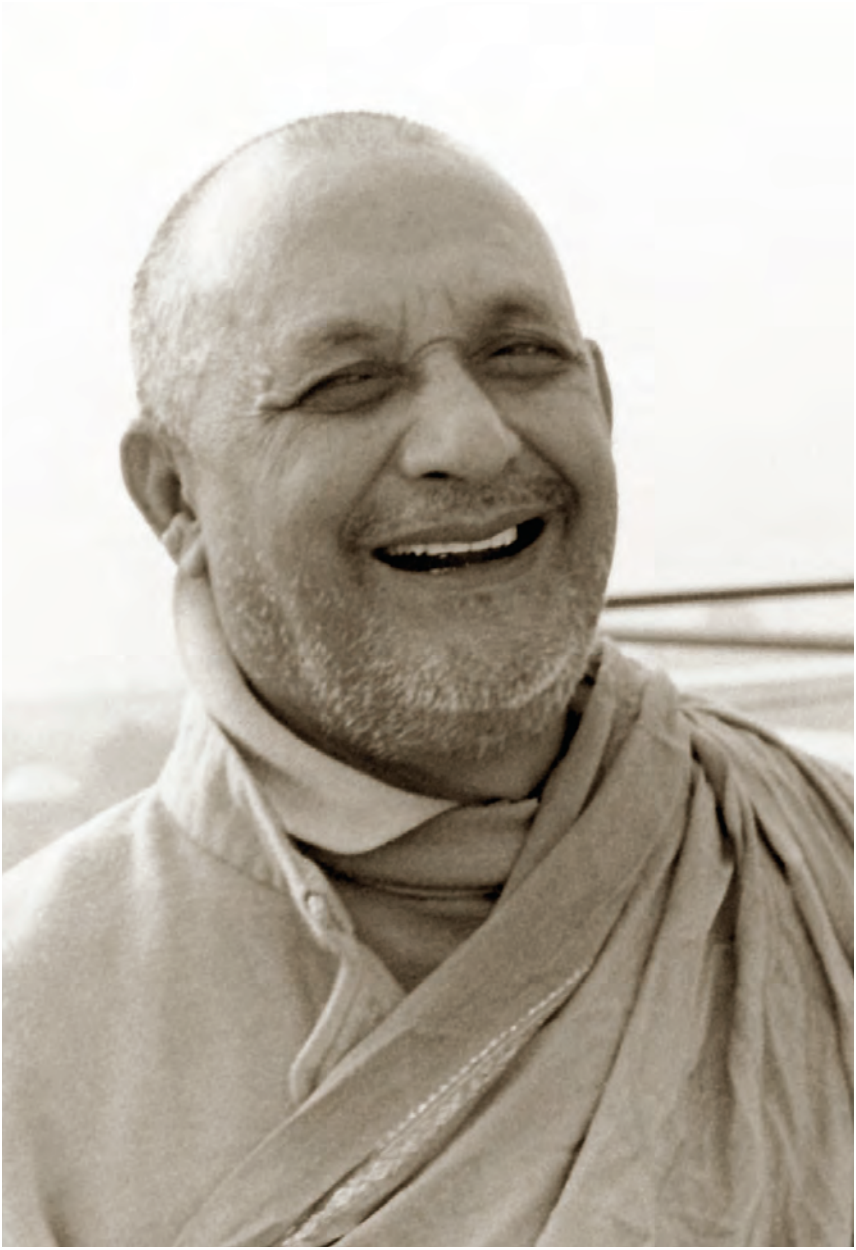

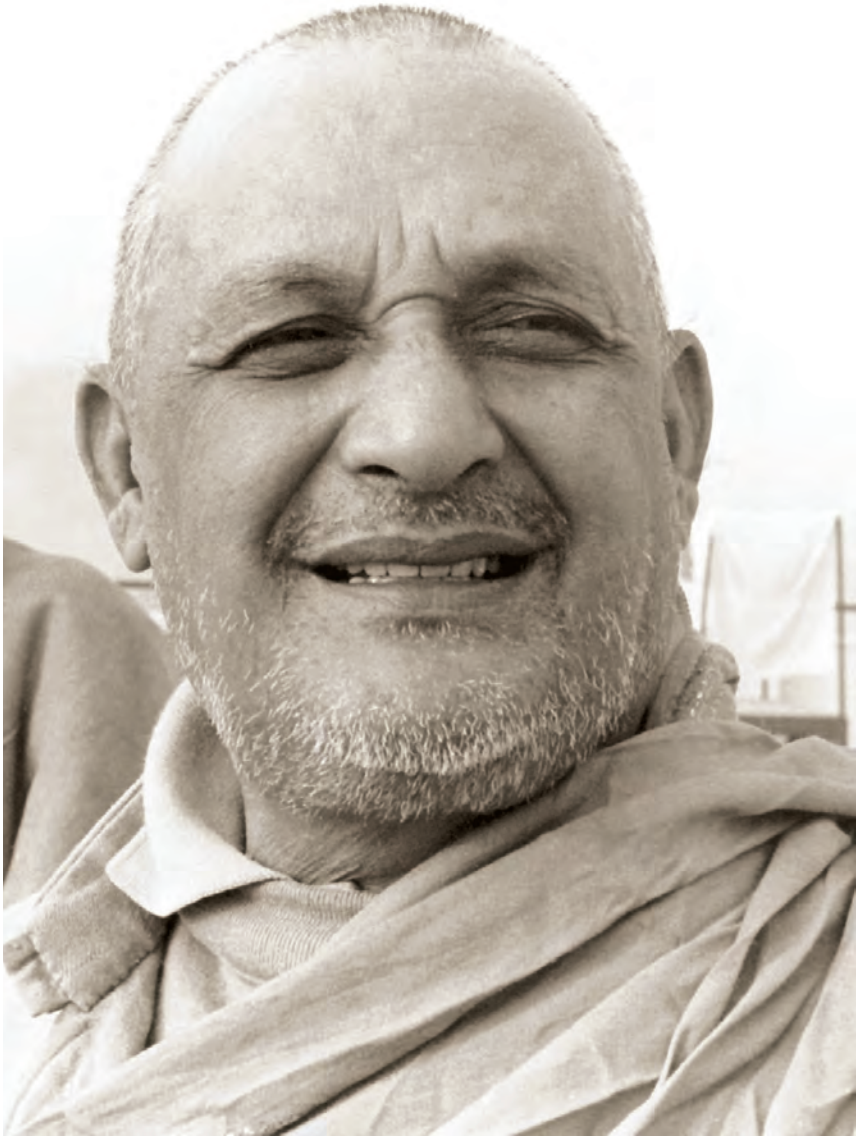

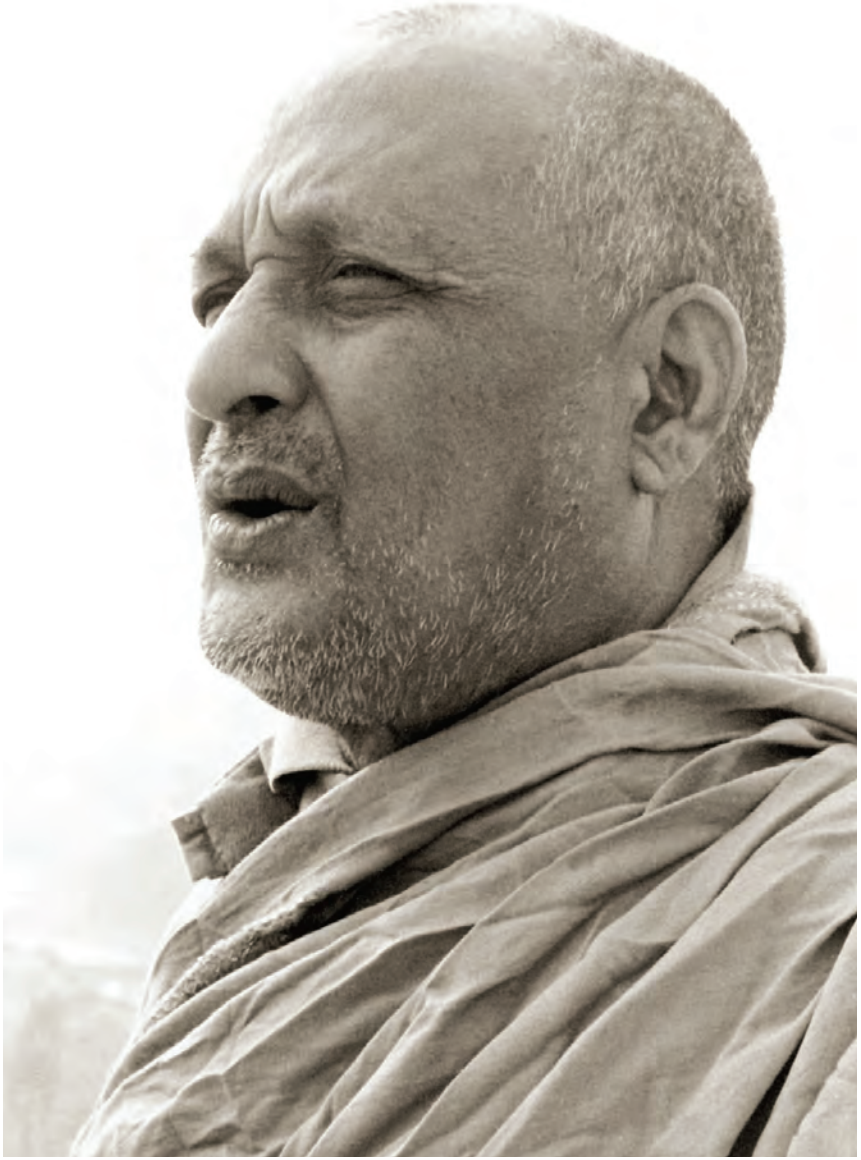

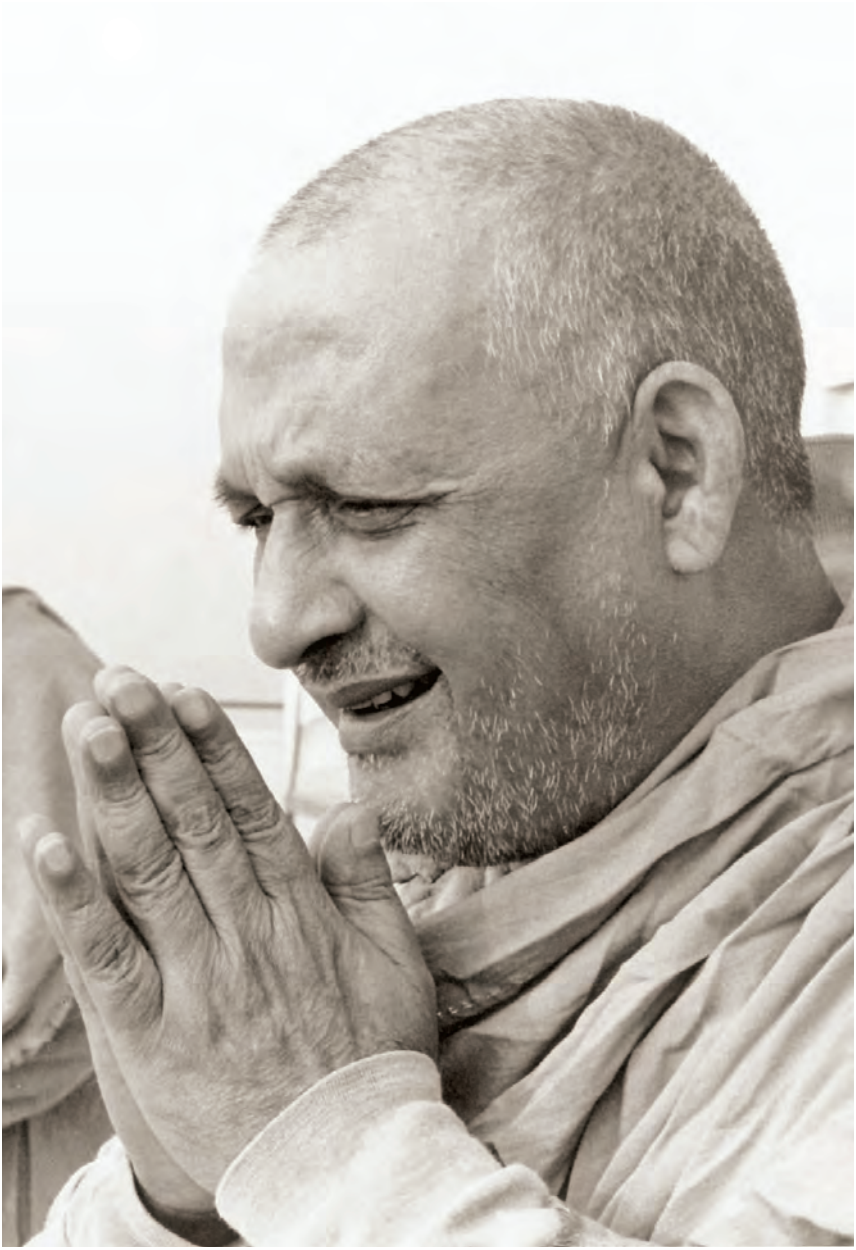

कि उसे दुबारा चला पायेंगे या नहीं। कर्म का सम्बन्ध केवल व्यापार से नहीं है, बल्कि आपके परिवार और समाज से जुड़ा हर पहलू इसके अन्तर्गत आता है।

आप परिवार या व्यापार में जो भी कर्म करते हैं, वह मन में एक प्रकार की त्रुटि पैदा करता है, क्योंकि कर्म के प्रति सजग होते ही आप उसके फल या परिणाम के प्रति भी सजग हो उठते हैं। दुनिया में ऐसा एक भी मनुष्य नहीं जो यह कहेगा कि मुझे बुरा फल ही चाहिए, मैं अच्छा फल नहीं चाहता। कोई भी ऐसा नहीं कहेगा क्योंकि मनुष्य स्वभावतः सभी चीजों को अच्छे रूप में चाहता है। किन्तु प्रकृति और मन के नियमों के अनुसार सब व्यक्ति की इच्छाशक्ति पर निर्भर करता है और इच्छाशक्ति व्यक्ति के पूर्व के कर्मों पर निर्भर करती है।

कर्मों में कुशलता और मन की समता

इच्छाशक्ति मजबूत भी हो सकती है और कमजोर भी, इसलिए आध्यात्मिक साधकों को कर्मयोग के रहस्यों को समझना होगा। आप जब भी कोई कर्म करें, उसे पूरी निष्ठा और कुशलता के साथ करें। आपको उस कर्म में पारंगत होना है, किन्तु साथ ही मन का संतुलन भी रखना है और यही दो महत्त्वपूर्ण परिभाषाएँ श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दीं, जिसने लड़ने से मना कर दिया था, जिसका उत्साह खत्म हो गया था। पहली परिभाषा है – *योगः कर्मसु कौशलम्* और दूसरी, जो इससे अलग नहीं बल्कि इसकी पूरक है – *समत्वं योग उच्यते।* कर्म में कौशल और मन के संतुलन के साथ ही कर्मयोग सिद्ध होता है। कर्म में कुशलता का अर्थ सब जानते हैं, किन्तु मन के संतुलन के विषय में जानना आवश्यक है। मन का संतुलन बनाये रखने के लिए हमें कर्म और मन के स्वभाव को समझना होगा। इसीलिए मैंने आपसे कहा कि हमें अपने कर्म के साथ अपने सम्बन्ध की परिभाषा पुनः करनी है।

जब मैं अपने गुरु, स्वामी शिवानन्द जी के साथ ऋषिकेश में रहता था, उस समय हमलोग आश्रम के लिए कठोर परिश्रम किया करते थे। हमलोगों ने वीरान जंगल में एक छोटी-सी कुटिया से एक विशाल आश्रम खड़ा कर दिया जिसमें अनेक भवन थे, लेकिन वह पूरा स्थान असुरक्षित था। हम लोग आश्रम में टाईप-राईटर, बिजली के बल्ब और अच्छे कम्बल लाते, किन्तु हर सुबह पाते कि कुछ बल्ब गायब हैं या कोई कमरे का दरवाजा तोड़कर कम्बल लेकर चम्पत हो गया। हम लोग स्वामी शिवानन्द जी को बताते कि देखिये ऐसा हो रहा है, जिस पर वे कहते, 'तुम या तो इन चीजों की सुरक्षा का स्थायी प्रबन्ध

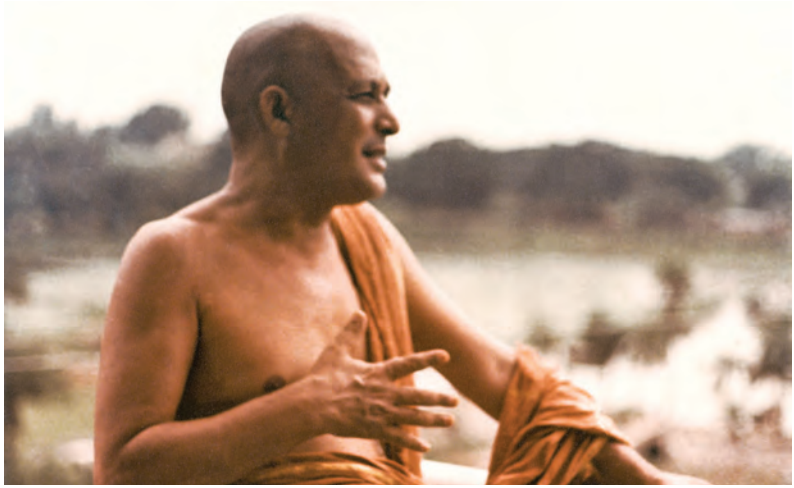

करो, और अगर नहीं कर सकते तो अपने मन को इन प्रभावों से मुक्त रखो। अन्यथा तुम क्रोधित और चिड़चिड़े रहोगे, रात को भी तुम्हें बुरे स्वप्न आयेंगे, और मेरे तथा अपने गुरु भाइयों के साथ तुम्हारे संबंध अच्छे नहीं रहेंगे।'

उस समय मेरे लिए यह संभव नहीं था कि मैं स्वामीजी के वचनों को ठीक से समझ पाता। मैं इन गायब होने वाली चीजों के लिए इतना चिन्तित हो गया कि मैं लोगों पर शक करने लगा। काम तो मैं बहुत अच्छा कर रहा था। शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, सभी स्तरों पर मैं आश्रम का एक उत्तम कार्यकर्त्ता था, लेकिन यहाँ मेरी समझ में भूल थी। मैंने आश्रम के कई स्वामियों पर भी बड़े ओछे तरीके से संदेह करना प्रारम्भ कर दिया। मैं सोचता कि वे वास्तव में चोर हैं जो चोरी करने के लिए ही स्वामी बने हैं। वे ही आश्रम से कम्बल, बल्ब और टाईप-राईटर ले जा रहे हैं, अन्यथा किसी को कैसे मालूम कि उन कमरों में क्या रखा था। मेरे सारे शक वास्तव में बेबुनियाद थे।

अब देखिये कि किस प्रकार एक छोटी-सी घटना मनुष्य के मन और व्यवहार में स्थान बनाकर उसके सोचने के तरीके को, व्यक्तित्वों की परख को बदल सकती है और गलत निर्णय दिलवा सकती है। मेरा संदेह इस सीमा तक बढ़ गया कि मैंने कुछ अन्तेवासियों को आश्रम से बाहर कर दिया और कुछ सेवकों को दण्डित भी किया। आज मैं जानता हूँ कि मैं गलत था। जब मैंने कर्मयोग के विज्ञान को जाना तो समझा कि मैं गलत था क्योंकि मेरे निर्णय सही नहीं थे। स्वामीजी हर बार मुझे बुलाते और समझाते, 'अगर तुमने कुछ

चीजें खो भी दी हैं तो कोई फर्क नहीं पड़ता, क्योंकि तुम्हारा मन यदि स्थिर और शान्त है तो तुम उन्हें अन्य उपायों से पुनः प्राप्त कर सकते हो या उनको बचाये रखने का रास्ता खोज सकते हो।'

मैंने लगातार कई सालों तक स्वामी शिवानन्द जी के साथ काम किया। मैंने बहुत-से विभागों का संचालन किया, हजारों चिट्ठियाँ, किताबें और कागजात टाइप करता था, सामान ढोता था, पोस्ट ऑफिस और बैंक का काम देखता था। साथ ही अपने आध्यात्मिक जीवन में भी सक्रिय था। गीता, उपनिषदों, बाइबिल और कुरान जैसे बहुत-से ग्रंथों का मैंने अध्ययन किया, किन्तु मन की गहरायों में घुस रहे संस्कारों को रोक नहीं पाया। उस समय अगर मेरे पास एक योगी की दृष्टि होती और मैं अपने मन की गहराइयों में झाँकता तो सैंकड़ों-हजारों मकड़ी के जालों को देखता।

मेरा व्यवहार और सोचने का ढंग, मेरा अपने से बड़ों और छोटों के प्रति दृष्टिकोण गलत था। मेरे भीतर प्रबल अहंकार था और मैं यह भी सोचता कि इस अहंकार से किस प्रकार मुक्ति मिले। आधे घण्टे के लिए भी मेरी किसी के साथ पटती नहीं थी और न ही कोई मेरे साथ पटा सकता था। मैं केवल लोगों के दोषों को ही देखता था, किन्तु मैं नहीं जानता था कि यह सब मेरे अपने कर्म के साथ ठीक संबंध न होने के कारण है। यह सच है कि मेरे अच्छे काम के कारण आश्रम फला-फूला, लेकिन साथ ही मेरे गलत दृष्टिकोण का कुप्रभाव भी सब लोगों में फैला और सभी मेरे जैसे बन गये। कर्म से बेहद लगाव, दिन-रात घड़ी मिलाकर काम करना, कभी मात्र दो घण्टे सोना – यही हमारी दिनचर्या बन गयी, लेकिन आध्यात्मिक स्तर पर मैं संस्कारों को जमा करते जा रहा था जो मेरे सम्पूर्ण व्यक्तित्व को प्रभावित कर रहे थे।

इसलिए स्वामी शिवानन्द जी ने मुझे एक दिन बुलाया, यह सन् 1947 की बात रही होगी, और कुछ बातें बतलायीं। उन्होंने कहा, 'तुम्हें कर्म तो करना है, इसमें कोई संदेह नहीं, लेकिन साथ ही कर्म से मुक्त रहने का प्रयास करो।' मैंने पूछा, 'यह कैसे संभव है जबकि मुझे रोज करीब बीस-तीस चिट्ठियाँ टाईप करनी पड़ती हैं, पैसे का हिसाब रखना पड़ता है और आपके विभिन्न प्रकृति के शिष्यों एवं अतिथियों से मिलना होता है जो भिखारी से लेकर करोड़पति तक होते हैं। आखिर मेरा भी तो अपना एक अस्तित्व और व्यक्तित्व रहना चाहिए।'

स्वामी शिवानन्द जी बोले, 'नहीं! यह अच्छा नहीं है, क्योंकि इस तरह तुम अपनी आध्यात्मिक प्रगति को रोक रहे हो। यही नहीं, तुम अप्रसन्न रहते

हो, क्योंकि मैं रात-दिन देखता हूँ कि तुम्हारा चेहरा तनावों से भरा है, तुम्हारी आवाज उत्तेजना से भरी है और तुम नहीं जानते कि यथार्थ में तुम कह क्या रहे हो।' फिर अन्त में उन्होंने मुझे एक संकेत दिया। उन्होंने कहा, 'तुम्हें सभी कर्म तो करने ही हैं। पैसे गिनो, रसोईघर चलाओ, लोगों से मिलो, लेकिन उन सभी कर्मों में से यह सोचते हुए निकल जाओ कि यह मेरा कर्त्तव्य मात्र है, जहाँ तक फल का प्रश्न है मुझे उसकी चिन्ता नहीं, अगर परिणाम अच्छे हैं तो स्वीकार हैं, बुरे हैं तो भी स्वीकार हैं।'

अपने सम्बन्धों की पुनर्परिभाषा

सबके जीवन में आखिर सूर्य हमेशा तो नहीं चमकता। कभी तो काली घनी रात भी आती है। इसलिए हमें ऐसा दर्शन स्वीकार करना चाहिए जो हमें अन्धकार में मदद करे, केवल प्रकाश में नहीं और यही कर्म के पदार्थवादी दर्शन तथा कर्मयोग के आध्यात्मिक दर्शन में अन्तर है।

कर्म का पदार्थवादी दर्शन आपको प्रसन्नता और प्रकाश में प्रसन्न रहना सिखलाता है, जबकि कर्मयोग का दर्शन आपको तब प्रसन्न रहना बताता है जब चारों तरफ घोर अन्धकार छाया हो, जब आपको धोखा दिया गया हो, जब आपको मालूम पड़े कि जिसके लिए आपने अपना सर्वस्व निछावर कर दिया, जिसे खुश रखने के लिए आपने अपना सम्पूर्ण सामर्थ्य लगा दिया, उसके अन्दर आपके लिए तनिक भी आदर भाव नहीं है, वह आपकी जरा भी परवाह नहीं करता। ऐसे समय आपको लगता है कि 'हे भगवान्! अब मैं क्या करूँ? ऐसे जीवन का क्या प्रयोजन?' आप आत्मघाती भावनाओं के वशीभूत हो जाते हैं या आपमें यदि आत्महत्या का साहस नहीं हुआ तो आप किसी दूसरी दिशा में भागना चाहते हैं। इस तरह की मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाओं से पश्चिमी सभ्यता के लोग भली-भाँति अवगत हैं। यह सब तभी होता है, जब आप कर्मयोग के आध्यात्मिक दर्शन को नहीं समझते।

कर्म तो सब लोगों को करना है, इसीलिए गीता में श्रीकृष्ण ने उस महारथी अर्जुन से, जो जीवन का सामना करना नहीं चाहता था, कहा – 'अर्जुन! तुम कहते हो कि तुम कर्म को त्यागना चाहते हो, लेकिन कोई भी कर्म को त्याग नहीं सकता।' एक बार अमेरिका के कुछ लड़कों से मेरी भेंट हुई जो मेरे आश्रम आए थे। वे बोले, 'हम काम करना नहीं चाहते।' मैंने पूछा, 'क्यों?' तो वे बोले कि कर्म ही पापों की जननी है। मैंने कहा, 'कर्म से तुम्हारा तात्पर्य

क्या है? कुदाल चलाना, टाईप-राईटर चलाना? अरे, कर्म तो मानसिक और अवचेतन स्तर पर भी किया जाता है।' गीता में कहा है कि आप कर्म का कभी भी परित्याग नहीं कर सकते, चाहे आप हिमालय में क्यों न चले जायें। रात में सोते समय भी कर्म का त्याग नहीं होता, क्योंकि कर्म तो स्थूल, सूक्ष्म आदि विभिन्न स्तरों पर अनवरत चलते रहता है। सोचना तक भी कर्म है।

निष्कर्ष यही कि कर्मयोग को कर्म की पूर्ण सजगता के साथ करना चाहिए। मैं जो भी काम करता हूँ, मैं जानता हूँ कि मैं यह करने जा रहा हूँ और इससे मुझे कुछ परिणाम मिलेंगे जो या तो इच्छित होंगे या अनिच्छित। यदि इच्छित फल मिलता है तो बहुत अच्छा है, किन्तु यदि कुछ ऐसा होता है जो मैं नहीं चाहता तो मेरे मन को वह भी सहन करने को तैयार रहना चाहिए। इसलिए सभी को अपने जीवन के साथ, अपनी क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं के साथ, अपने पारिवारिक सदस्यों तथा परिचितों के साथ, अपनी धन-सम्पत्ति के साथ अपने सम्बन्धों को पुनः परिभाषित करना है। जीवन की हर चीज, विशेषकर हर कर्म के साथ अपने सम्बन्ध को पुनर्व्यवस्थित करने की प्रक्रिया में आपको एक नया दृष्टिकोण मिलेगा और यही दृष्टिकोण कर्मयोग है।

कभी-कभी लोग सोचते हैं कि अस्पताल जाकर बीमारों की सेवा करना कर्मयोग है। यह कर्मयोग तो है, किन्तु पूर्ण कर्मयोग नहीं है। यह मानवता-सेवा का योग है और बहुत अच्छा है क्योंकि इससे दीन-दुखियों की पीड़ा कम होती है। कुछ लोग सोचते हैं कि अनाथालय जाकर सेवा अर्पित करना कर्मयोग है। यह भी बहुत अच्छा है, लेकिन यह भी पूर्ण कर्मयोग नहीं है। कर्मयोग का अभ्यास केवल अनाथालय जाकर या कोढ़ियों या अन्धों की सेवा द्वारा नहीं किया जाता। यह अवश्य ही एक महान्, पुनीत कार्य है, किन्तु वे सभी कर्म जो आप अपने पति-पत्नी, बच्चों और मित्रों के साथ करते हैं, अपने पद-प्रतिष्ठा और धन-सम्पत्ति के प्रति जो दृष्टिकोण रखते हैं, अपने मन में जो इच्छायें और महत्त्वाकांक्षाएँ संजोकर रखते हैं, उन सभी के साथ आपका एक निश्चित, उदार, पुनर्व्यवस्थित सम्बन्ध होना चाहिए। यही कर्मयोग की कुंजी है, और जिस दिन आप यह कुंजी पा लेंगे उस दिन से आपके लिए यह जीवन एक सुखद तीर्थयात्रा बन जाएगा। मैं पुन: स्पष्ट कर देता हूँ कि कर्मयोग मात्र मानव सेवा तक सीमित नहीं किया जाना चाहिए, इसमें आपके स्वयं के साथ सम्बन्ध की पुनः परिभाषा भी सम्मिलित होनी चाहिए।

– 9 मार्च 1971, बेलफास्ट, आयरलैण्ड

साधक साधना नहीं करता

जब से लोगों ने अपने जीवन में अशांति व असंतोष का अनुभव किया, वे अध्यात्म मार्ग की ओर मुड़े हैं। आज योग का बृहत् प्रचार-प्रसार इसका प्रमाण है। योग की गुप्त साधनाओं को गुरुजनों ने सर्वसाधारण के लिए प्रकाशित कर दिया है। लोग साधना करने लगे हैं, लेकिन फिर भी साधना के विषय में बहुत-से प्रश्न उठाये जाते हैं। सर्वप्रथम प्रश्न है, क्या मेरे लिए साधना करना जरूरी है? इस प्रश्न का उत्तर सीधे हाँ या ना में देने से आपकी समस्या हल नहीं होगी क्योंकि तब प्रश्न उठेगा, 'कब करें, कैसे करें, कहाँ करें?' आदि। इसीलिए साधना के विषय में सबको अच्छी तरह सभी बातों को समझ लेना चाहिये।

साधना के बारे में वास्तविक सत्य तो यह है कि साधना करने वाला एक, और कराने वाला कोई दूसरा है। हमारे अंदर जो शक्ति है, वही हमसे साधना कराती है। दूसरा महत्त्वपूर्ण सत्य इसके बारे में जानने का है कि साधना के द्वारा जिस भगवत्कृपा, भगवद्दर्शन, कुण्डलिनी-जागरण, आत्म-ज्ञान या निर्विकल्प समाधि की हम अपेक्षा करते हैं, वह साधना पर अवलंबित नहीं है। ये सब अपेक्षायें हैं। स्पष्ट बोलता हूँ, क्योंकि ऐसा महात्माओं ने कहा। ये सब साधना के बिना भी मिलती हैं। यह अंतिम सत्य आपको बतलाता हूँ, इसमें आज तक किसी ने भी दो मत नहीं दिये। आत्म-साक्षात्कार भगवत् इच्छा पर

निर्भर करता है, व्यक्तिगत पुरुषार्थ पर नहीं। तुम खूब साधना करोगे, तुमको भगवान दिखेंगे, ऐसा नियम नहीं है। तुम साधना नहीं करोगे, तुमको भगवान नहीं दिखेंगे, यह नियम भी नहीं है। फिर सवाल उठता है कि साधना आखिर क्यों करते हैं? जब कुण्डलिनी का जागरण भगवत् इच्छा पर निर्भर होता है तब फिर यह तमाशा सिखलाने के लिए हम क्यों यहाँ आते हैं?

साधना इस परेशान करने वाले मन को नियंत्रण में करने के लिए की जाती है। मन की एक 'न्यूसेन्स वेल्यू' है। बेकार परेशान करने वाले को न्यूसेन्स वेल्यू कहते हैं। मन बेमतलब परेशान करता है, कोई कारण नहीं है। इस वजह से हमलोगों को बहुत तकलीफ सहन करनी पड़ती है। जब तक हम जिंदा है नींद नहीं आती, दिल में तकलीफ होती है, लड़ाई-झगड़ा होता है, काम-क्रोध के वशीभूत होते हैं। आप जानते हो कि आदमी का मन यदि उसको तंग करने लगे तो किस हद तक तंग कर सकता है। यह मन प्रकृति का बेटा है। प्रकृति की तीन स्त्रियों से एक पुत्र का जन्म हुआ है, उसका नाम मन है। रजोगुण, तमोगुण और सतोगुण – इन तीन गुणों के आधार पर प्रकृति ने मन को जन्म दिया।

इस त्रिगुणात्मक मन को किसी तरह से तमोगुण और रजोगुण की आदतों से मुक्त करके, सत्त्वगुण में स्थापित कर सकें तो साठ-सत्तर-अस्सी-नब्बे साल की जो जिंदगी हमें हासिल हुई है वह बड़े आराम के साथ कटेगी। साधना का यह उद्देश्य है। हम आप लोगों से साधना करने की जो बात बोलते हैं वह इसलिए कि जो छोटी-सी जिंदगी हमें मिली है वह शांति से बीते, मन के साथ लड़ते हुए, मन की पीड़ाओं को भोगते हुए, मन की मार खाते हुए न बीते और मन हमसे कोई गलत काम न करा दे। मन को वश में करने के लिये, मन को अनुशासित करने के लिये ये सभी साधनायें हमसे कराई जाती हैं।

जिस तरह से एक कमरे और दूसरे कमरे के बीच दीवार या पर्दा रहता है, उसी प्रकार मेरे और परमेश्वर के बीच केवल एक पर्दा है और यह पर्दा है माया का। माया को किसने बनाया? कहते हैं मन से माया पैदा होती है। मन का जो चाल-चलन और व्यवहार है, वही माया है। मन झूठी-झूठी कल्पनायें करता है, सब झूठी-झूठी बातें दिमाग में लाता है, वह माया है। अब इस माया को बीच से निकाल दोगे तो दोनों कमरे एक हो जायेंगे। इसलिए बीच की दीवार को तोड़ने के लिये साधना की जाती है। कबीरदास जी कहते हैं कि दस घड़े हैं और दसों घड़ों में पानी रखा गया है। एक घड़े में कुएँ का पानी है, दूसरे में बावली का, किसी में तालाब का पानी है। अब लोग बोलते हैं कि

कुएँ का पानी तालाब के पानी से अलग है। तालाब का पानी नदी के पानी से अलग है, क्यों? इसलिए कि सब अलग-अलग घड़ों में हैं। घड़ों को फोड़ दो, सब पानी एक हो जाएगा। '*फूटहिं कुंभ जल जलहि समाना*' – जब घड़ा टूट जाता है तब पानी एक-दूसरे से मिल जाता है। बीच का पर्दा जब हटेगा, तब 'तत्' और 'त्वम्' की दूरी मिट जाएगी। तत् माने 'वह', त्वम् माने 'तुम', दोनों का भेद मिट जाएगा। वह परमेश्वर है और मैं जीवात्मा हूँ, यह भेद मिट जाएगा, फिर वह-हम एक हो जायेंगे। यह आत्मज्ञान है। यह बात तो सच है कि *तत्त्वमसि* – तुम वही हो। यह भाव माया के मिटने पर होता है, पर्दे के हटने पर होता है, मन के सेवा-निवृत्त हो जाने पर होता है। मन को सेवा-निवृत्त करने के लिए हम लोगों को विभिन्न साधनायें बतलाते हैं।

गीता के ग्यारहवें अध्याय में भगवान कृष्ण अर्जुन से कहते हैं, 'हे अर्जुन, यह महाभारत युद्ध तो लड़ा जा चुका है, तुमको फिल्म देखनी हो तो देखो।' तब तक तो लड़ाई हुई नहीं थी, होने वाली थी। तब श्रीकृष्ण ने अर्जुन को पूरी फिल्म दिखलायी जिसमें भीष्म, द्रोण, जयद्रथ आदि सब कुरुवीर पहले ही काल के गर्भ में जा चुके थे। 'तुम मात्र निमित्त बनो, नाम तुम्हारा रहेगा कि तुमने मारा, मगर मैं उन्हे पहले ही मार चुका हूँ।' सब कुछ होने पर भी अर्जुन को लड़ाई तो लड़नी पड़ी। फिल्म बन चुकी थी, युद्ध हो चुका था। कहाँ? सूक्ष्म जगत् में लड़ाई हो चुकी थी। महाभारत समाप्त हो गया था, सब मर भी चुके थे, फिल्म भी बन चुकी थी, अर्जुन उसे देख भी चुका था। उसके बाद फिर भी उसे लड़ना पड़ा। इसी तरह से तुम लोगों की फिल्म बनाई जाय कि सबको भगवत् कृपा मिल गई, सब भगवान के प्यारे बन गए, तो भी तुम्हें जप-ध्यान तो करना ही पड़ेगा।

'क्या करें, क्यों करें?' अपने साधना के दिनों में हम तो यही सोचते थे। एक बार मुझे ऐसा लगा कि मैं साधना करता हूँ, यह भी तो एक अहंकार है। मुझे अहंकार है कि मैं साधना करता हूँ। साधना भी किस चीज की? भगवत् अनुग्रह की। अरे वाह! *पिपीलिका चुम्बति चन्द्रबिम्बम्* – चींटी चन्द्रमा को चूमने जा रही है! हम क्या साधना करेंगे? भगवान को प्राप्त करने के लिए साधना कोई यूनिवर्सिटी सर्टिफिकेट थोड़े ही है, और भगवान कोई इतने दूर तो हैं नहीं कि उनके लिए सब कुछ किया जाए। छोड़ दी सारी साधना। छोड़ने के बाद मालूम पड़ा कि नहीं, गलत बात है। यह साधना मन की निरर्थक परेशानी को खत्म करने के लिए है। यह जो शरारती, गुण्डा आदमी हमारे घर

में बैठा हुआ है और जिसने सबको परेशान करके रखा है, उसको किसी तरह से बाहर निकाल देना है।

उसको कुण्डलिनी योग सिखलाओ, उसको जप सिखलाओ, उसको रामायण-गीता पढ़वाओ, गुरुजी के पैर में उसका सिर झुकवाओ, कुछ भी करो पर इस मन से थोड़ी देर के लिए तुम निर्मुक्त हो जाओ। जब तुम मन से निर्मुक्त हो जाओगे तब तुमको लगेगा कि साधना तो कुछ करनी नहीं है, क्योंकि '*फूटहिं कुंभ जल जलहि समाना*' – जिसको हम ढूंढने जा रहे हैं, जिसको हम पाने जा रहे हैं, जिसको हम खोज रहे हैं, अंत में पता चला कि वही तो अपने को खोज रहा है। अभी पता नहीं चलता है। अभी तो मैं किसी दूसरे को खोज रहा हूँ। मगर जब माया हट जाएगी तो लगेगा कि मैं ही मैं को खोज रहा था। जिसको मैं खोजता हूँ वह मेरे से अलग नहीं है। सवाल इतना ही है कि जिसको मैं खोज रहा हूँ उसके असली स्वरूप का मुझको पता नहीं है। किताब में तो पढ़ा हुआ है – आत्मा अमर है, अजर है। ये सब बौद्धिक तर्क हैं, कुछ समझ में नहीं आता। कितना भी समझाओ, इसे बुद्धि से नहीं समझा जा सकता। अमर का क्या मतलब है, शाश्वत से क्या समझे? अजन्मा और सर्वव्यापक से क्या समझ आया? कुछ समझ में नहीं आता है, केवल अपने सीमित ढंग से हम लोग समझ लेते हैं। तो अब हमलोगों को करना क्या है?

जब आपसे साधना होवे तब अहंकार रहित होकर साधना करो। सोचो कि मेरे से कराया जा रहा है। मैं कर्ता नहीं हूँ, मैं साधना का निमित्त हूँ। नौकर या ताबेदार हूँ, उपभोक्ता भी नहीं हूँ। कर्ता भाव से मत करो, निमित्त भाव से करो। मेरे से साधना कराई जा रही है, मैं नौकर हूँ और मुझे अब जप करना है। तुम भगवान के यहाँ नौकरी करते हो। रोज तुमको आधा घंटा बैठ करके जप करना है, पन्द्रह मिनट प्राणायाम करना है, दस मिनट आसन करना है, पन्द्रह मिनट सत्संग में जाना है। मन में सोचो मैं कर्ता नहीं हूँ, मैं निमित्त हूँ। पहले भी ऐसा सोचो, बाद में भी ऐसा सोचो, हमेशा ऐसा सोचो।

अगर साधना में कोई अच्छा अनुभव प्राप्त हो, सत्संग करते-करते किसी महात्मा का आशीर्वाद अपने को प्राप्त हो या मन में शांति प्राप्त हो तो सोचना कि इस अनुभव का भी मैं निमित्त मात्र हूँ। किसी वजह से मन कलुषित हो जाए, निराश हो जाए, मन में उदासी आ जाए, कुछ जप-ध्यान करने का मन नहीं करे, तो लगेगा सब फालतू है, पर तब भी निमित्त भाव रहे। साधना द्वारा अच्छे-बुरे, दोनों अनुभवों की प्राप्ति में आप निमित्त हैं।

यदि विश्वास और आस्था के साथ साधना करते जाओगे तो आपने जो साधना का मार्ग अपनाया है वह धीरे-धीरे स्पष्ट होगा। 'मुझे साधना नहीं करनी है, क्योंकि स्वामी सत्यानन्द जी बोलकर गए हैं – बिना साधना के भी भगवान मिल जायेंगे' – ऐसे हाथ पसार कर बैठोगे तो कुछ नहीं मिलेगाा। क्यों? उदाहरण देता हूँ – होटल में बना-बनाया खाना मिल जाता है, हम खा लेते हैं। घर में बीबी की जरूरत नहीं। होटल में गए, डेढ़-दो रुपया दिया, खा लिया। दोपहर को गए, चाय-वगैरह पी ली, रात को भी खा लिया। खाना तो खा लिया, पचाना कैसे? उसके लिए टहल रहे हो, रोज घंटा भर। अब तुम बिना परिश्रम के खाना पचाते क्यों नहीं? खाना तो मिला बिना परिश्रम के, सीधा होटल में गए और खाना मिल गया। अब तुम सोचो कि पचाने के लिए भी परिश्रम न करना पड़े, ऐसा नहीं होता है।

अपने जीवन में जो भी साधना हम कर रहे हैं वह हमारी कठिनाइयों के अनुकूल हो। इसलिए बहुत ऊँचा मत जाओ, थोड़ा-सा नीचे उतरो। तुम सबेरे उठते हो, रात को सोते हो, बीच में क्या-क्या होता है? मन में कितनी परेशानी होती है? छोटी-छोटी बात पर भाई-बहन या अफसर-बाबू के बीच में क्या-से-क्या हो जाता है? हम छोटी-छोटी बातों से कितना भयभीत हो जाते हैं! मन में काम-वासना या क्रोध दिन में कितनी बार आता है? इन सब के कारण ग्लानि होती है। ग्लानि इसलिए होती है कि सोचने लगते हैं, 'मन में खराब विचार आ रहे हैं, छि-छि, ऐसा नहीं आना चाहिए।' छि: की भावना आती है, अपराध की भावना आती है, भ्रम की भावना आती है, भय की भावना आती है – इसको दूर करने के लिए ही साधना जरूरी है।

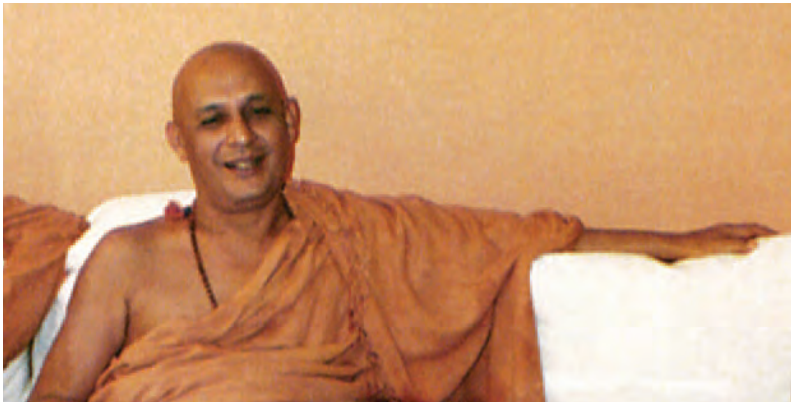

ईश्वरेच्छा बलीयसी

यदि भगवत् इच्छा के अनुसार जीवन चलता है तो फिर हमारे जीवन में स्वतंत्रता कहाँ रही?

भगवत् इच्छा यानि भगवान के मास्टर प्लान में स्वतंत्रता भी है। इसमें दोनों बातें हैं, जब तक बच्चा छोटा रहेगा उसको संभालकर रखना, जब बच्चा बड़ा हो जायेगा और अपने आप साईकिल में घूमेगा तो घूमने देना। जब तक लड़की छोटी है, संभालकर रखना, जब शादी हो जायेगी तो दूसरे घर भेज देना। इस तरह भगवत् इच्छा या भगवत् संकल्प के बाहर तो कोई है ही नहीं, इंसान भी नहीं।

जब कोई काम गलत कर देता है तब?

यह भी भगवत् इच्छा के अन्तर्गत है।

भगवत् इच्छा से ही सब कुछ होता है?

हाँ, सब कुछ भगवत् इच्छा से ही होता है, चाहे उसे भगवत् संकल्प कहो या दिव्य योजना या मास्टर प्लान। इसी के आधार पर सब चीजें चलती जा रही हैं। छोटा-सा इंसान कभी-कभी सोचता है कि भगवान के मास्टर प्लान को इधर-उधर उन्नीस-बीस कर सकते हैं। कुछ दिन वह कोशिश करता है, फिर छोड़ देता है, सोचता है, चलने दो नाव को प्रवाह के साथ। साधु-महात्मा साधना करते-करते एक अवस्था में कहते हैं, अब साधना क्या करेंगे? साधना तो कर्ता भाव वाले करते हैं। निमित्त भाव आता है, कर्ता भाव चला जाता है। वह अवस्था ज्ञान की है, परन्तु शुरू में तो आदमी को बड़ा अहंकार रहता है, हम क्यों नहीं करेंगे, जरूर करेंगे। ऐसे कहता है और जब उसको एकाध बार ठोकर लगती है तब उसे लगता है कि यहाँ तो कोई दूसरी ही योजना है। हमको लगता है कि यह बहुत कठिन विषय है और इसमें सिर लगाने से कोई फायदा नहीं है। परन्तु यह पक्की बात है कि एक मास्टर प्लान, एक दिव्य योजना बनी है, उसके अनुसार काम चल रहा है।

– 3 मार्च 1981, रायपुर

पुरुषार्थ, प्रारब्ध एवं पुनर्जन्म

पुरुषार्थ श्रेष्ठ है या प्रारब्ध?

पुरुषार्थ ही श्रेष्ठ है, क्योंकि प्रारब्ध पूर्व जन्म की कमाई है और अभी का हमारा कर्म पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ का महत्त्व इसलिए भी है कि इसी पर हमारा आगे का जन्म भी निर्भर करेगा। इसके साथ ही यदि प्राकृतिक विकास का क्रम भी देखा जाय तो वर्तमान जीवन भूतकाल के जीवन से आगे का होता है। भले ही हम संस्कारों का क्षय करने के लिये निम्न योनि में आ जायें पर मनुष्य का आत्मिक विकास होते ही रहता है। इसलिए भूतकाल का जो पुरुषार्थ था उस पर हमारा वर्तमान जीवन है और वर्तमान का जो पुरुषार्थ है उस पर भविष्य का जीवन निर्भर करेगा। अतः पुरुषार्थ को प्रारब्ध से ऊँचा मानना ही चाहिये।

साधारणतः व्यक्ति का प्रारब्ध पुरुषार्थ पर हावी रहता है, पर यह भ्रम है। इसलिए कि ऐसे व्यक्ति ने कर्म के क्षेत्र में अपना स्थान नहीं बनाया। कर्मयोगी का जीवन अपने कार्यों के प्रति इतना रत रहना चाहिये कि उसे यह सोचने को मौका ही नहीं मिले कि पुरुषार्थ को छोड़कर भी कहीं कोई हस्ती प्रारब्ध नाम की है। जब उसका आत्मबल इतना ऊँचा हो जायेगा कि वह स्वयं को ही अपने भाग्य का निर्माता मान ले तो उसका सारा भाग्य उसके कर्म पर निर्भर रहने लगेगा। जैसा वह चाहेगा परिस्थितियाँ उससे वैसा ही कर्म करायेंगी। जैसी उसकी इच्छा होगी वैसा ही उसका भाग्य बनेगा। इस तरह का व्यक्ति

अपने भाग्य का निर्माता होता है और वर्तमान परिस्थितियों का नियामक भी। पर ऐसे व्यक्ति कम होते हैं, नहीं के बराबर। कहा भी गया है –

ख़ुदी को कर बुलन्द इतना कि हर तकदीर से पहले,
ख़ुदा बन्दे से खुद पूछे बता तेरी रजा क्या है।

कर्मशील व्यक्ति स्वयं को इतना बुलन्द कर ले, शक्तिशाली बना ले कि ईश्वर उसका भाग्य लिखने से पहले उससे ही पूछे कि तू ही बता कि तेरी इच्छा क्या है, तू अपना भाग्य कैसा चाहता है?

जब वर्तमान के पुरुषार्थ पर भविष्य का प्रारब्ध निर्भर है तो पुनर्जन्म भी सत्य होना चाहिए?

पुनर्जन्म तो सत्य है ही। बहुत-से ऐसे व्यक्ति हुए हैं जिन्होने कहा है कि मैंने पुनर्जन्म देखा है। स्वयं महात्मा बुद्ध ने इसका साक्ष्य दिया है। हम हिन्दू लोग तो पुनर्जन्म को मानते ही हैं साथ ही दूसरे धर्म वाले जैसे ईसाई भी व्यावहारिक रूप में पुनर्जन्म स्वीकार करते हैं। ईसाई भी भूत-प्रेत, अलौकिक तत्त्व इत्यादि पर विश्वास करते हैं। शेक्सपीयर जैसे अंग्रेजी के प्राचीन उपन्यासकारों ने भी अपने नाटकों में ऐसे तत्त्वों का समावेश किया है। अभी भी अफ्रीका के ईसाइयों में या इंग्लैंड के कुछ ग्रामीण इलाकों में लोग झाड़-फूँक तथा प्रेत इत्यादि को बुलाने वाली क्रिया करते हैं। जब मरने के बाद आत्मा की कोई हस्ती रही नहीं तब प्रेत आया कहाँ से? मानते सभी हैं, फर्क इतना ही है कि ईसाई, मुसलमान वगैरह व्यवहार रूप में मानते हुए सैद्धांतिक पक्ष स्वीकार नहीं करते, जबकि हिन्दू, बौद्ध, जैन इत्यादि व्यवहार में तो स्वीकार करते ही हैं, सैद्धांतिक रूप में भी वैसा ही ग्रहण करते हैं।

महात्मा बुद्ध ने अनेक बार जीवन में आने की बात कही है। बोधिसत्त्व दुःख-निवारण के लिए संसार को छोड़ना नहीं चाहते, वे मुक्ति की कामना नहीं करते, बल्कि संसार में रहकर दुःख का निवारण चाहते हैं। बुद्ध कहा करते थे कि पहले जीव को दुःख से निवृत्त करो तब ईश्वर को खोजना चाहिए। अभी तो देह में आग लगी है, पहले उसे बुझाना होगा, तब न यह पूछा जायेगा कि आग किसने लगाई। अतः पहले दुःख मिटाओ, तब कारण ढूँढना और यही आदर्श बौद्धों का जीवनपर्यन्त रहा है। महात्मा बुद्ध तो अपने महानिर्वाण की बात जानते थे, जब उनका काम पूरा हो गया वे इस शरीर को छोड़कर चले गये,

उनकी आत्मा बोधिसत्त्व में आत्मसात् हो गई। उनका कार्य तो रहा ही, केवल शरीर परिवर्तन हो गया। इस तरह पुनर्जन्म तो होता ही है, लेकिन विज्ञान इसे अपनी प्रयोगशाला में परखना चाहता है, यही नहीं हो सका है, यद्यपि आत्मायें आती हैं, बात करती हैं, उनकी तस्वीर ली गई है। इन सब बातों पर बुद्धिवादी विचार कर रहे हैं और वे लोग भी इसे कुछ-कुछ सत्य मानने लग गये हैं।

अमेरिका में एक संस्था है जो वर्तमान काल के मरीजों का इलाज मरे हुए डॉक्टरों की आत्माओं को बुलाकर करती है। थियोसॉफिकल सोसायटी वाले भी इसके प्रयोग को स्वीकार करते हैं। लेकिन यह विषय ऐसा है कि इसे परा-मनोविज्ञान के माध्यम से तो परख सकते हैं पर वैज्ञानिक अनुसंधानशाला में इसके प्रयोग पर थोड़ी परेशानी हो रही है। हाँ, ऐसे यंत्र का भी आविष्कार हुआ है जो निःश्वास की तरंगों को देख सके। मरते हुए व्यक्ति का जो अंतिम उच्छ्वास होता है, जिसे हम प्राण का बाहर निकल आना कहते हैं, उसे भी देखा गया और तथ्य इकट्ठे किये गये जिन पर शोध किया जा रहा है। लेकिन ऐसे तथ्यों के प्रकाशित होने में देर लगेगी। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण यह अनुभव करा सकता है। ध्यान का अभ्यासी भी ध्यान के समय या कभी स्वप्न में इस शरीर के छोड़ने का अनुभव कर सकता है।

मृत्यु के बाद बहुत-से लोगों ने मृतक को जीवित अवस्था में देखा है, इसके प्रमाण मिलते हैं, साथ ही ऐसे भी प्रमाण मिलते है जिसमें कोई बच्चा अपने पूर्वजन्म की बात बताता है।

मृत्यु के बाद व्यक्ति को जिन्दा देखने के कई तथ्य मनोविज्ञान के पास हैं। यहाँ तक कि मृत्यु के बाद सदेह आई आत्मायें अपनी स्मृति भी प्रमाण के रूप में छोड़ गई हैं, ऐसे उदाहरण अवश्य हैं, पर जहाँ तक किसी बच्चे का पूर्वजन्म की बात बतलाने का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में परा-मनोविज्ञान के पास दो उत्तर हैं। कोई भी व्यक्ति किसी बच्चे को सम्मोहित करके उससे किसी दूसरे व्यक्ति के जीवन की बात बुलवा सकता है, भले ही वह बच्चा उस व्यक्ति से एकदम अनजान हो जिसके संबंध में बात कह रहा है। इसमें सम्मोहित करने वाले व्यक्ति को हर चीज की जानकारी रहती है और उसी के शब्द उस सम्मोहित किये बच्चे के मुख से निकलते हैं।

कभी-कभी संस्कारवश किसी बच्चे का एक केन्द्र जाग्रत हो जाता है जिससे वह दूसरे के जीवन की बात बताने लगता है। उसकी कोई विशेष प्रज्ञा-

तन्तु जाग जाती है और बिना सोचे-समझे किसी के विषय में धाराप्रवाह बोलते जाता है। ऐसे कुछ उदाहरण भी सामने आये हैं जहाँ कोई व्यक्ति भोली-भाली जनता को बरगलाता आया है, लेकिन हमारे लिये इतना जान लेना पर्याप्त है कि हमारे सिद्धांत पुनर्जन्म की सत्ता सिद्ध कर चुके हैं और इसका अनुभव साधक कर सकता है।

मान लिया कि पुनर्जन्म होता है, लेकिन इसी तरह जीव अगर योनियों में भटकता रहा तब तो कभी उससे मुक्ति नहीं मिल सकती। आज मनुष्य शरीर में आत्मा अच्छा काम करती है, लेकिन दूसरे जन्म में यदि उसे पशु शरीर मिला तो वह वैसा ही काम करेगी और वर्तमान कर्म पर ही जब भविष्य निर्भर करेगा तब तो सम्भव है कि मुक्ति न भी मिले।

शरीर का त्याग और आत्मा, ये दो अलग चीजें हैं। ऐसा देखा जाता है कि प्राण की धड़कन बंद है पर आत्मा शरीर में रहती है और कभी-कभी यह भी पाया गया है कि घड़ी चल रही है पर पक्षी पिंजड़ा छोड़कर बाहर निकल गया है। लेकिन यह अवस्था बहुत कम समय तक रहती है। प्राण और आत्मा के निकलने में थोड़े समय का अन्तर हो सकता है, पर जाते दोनों हैं। जब बच्चा गर्भ में रहता है उस समय उसके शरीर में प्राण आने के बाद आत्मा प्रवेश करती है। यह संसार की गति का धर्म है। ये दोनों चीजें हैं, प्राण एक क्रिया है, पर आत्मा प्रज्ञा की एक शक्ति है। आध्यात्मिक धरातल पर प्राण का विकास नहीं होता है पर आत्मा की दशा सदैव विकासोन्मुख रहती है।

जीव किसी कर्म को क्षय करने के लिये भले ही निम्न योनि पा ले, पर उसकी आत्मा की आवस्था वैसी ही उच्च भूमि पर होती है। जीव के मन में रही किसी इच्छा की यदि इस जीवन में पूर्ति नहीं हुई हो तो उसे पूरा करने के लिये आत्मा चाहे उच्च मनुष्य योनि में आये अथवा किसी अन्य योनि में, पर आत्मा की स्थिति

ऊँची ही रहती है। ऐसे ऊँची अवस्था को पाने वाला व्यक्ति ही 'संस्कारी पुरुष' कहलाता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में एक उदाहरण देकर समझाया गया है कि दो पक्षी एक वृक्ष पर बैठे थे। उनमें एक पक्षी की इच्छा दूसरे वृक्ष के फल खाने की हुई। वह उड़कर दूसरे पेड़ पर चला गया। दूसरा पक्षी साथ ही गया। पहले पक्षी ने जब नये वृक्ष का फल चखा तो उसे कड़वा लगा। फलतः उसने अन्य फलों को खाया ही नहीं। तीसरे वृक्ष की ओर मीठे फल के लालच में गया। दूसरा पक्षी तटस्थ भाव से पहले की करतूत देखता रहा। पहले पक्षी के ऐसे कर्म को देखकर उसने सलाह दी कि 'भाई, क्यों फल चखने के क्रम में पड़े हो? छोड़ो इन सब बातों को। जितना ही मोह रखोगे कर्म उतना ही तंग करेगा और कर्म की पूर्ति के लिये तुम्हें सदैव इस वृक्ष से उस वृक्ष पर जाना पड़ेगा।'

ये दोनों पक्षी मन के सत् और असत् विचारों के प्रतीक हैं। एक उसका आत्मभाव है, आत्मा है और दूसरा उसका जीव भाव है, प्राण भाव है। एक भाव बंधन छोड़ना चाहता है और दूसरा उसे फिर जीव योनि में खींच ले जाता है। यही कर्म का बंधन है। जब सारे संस्कार क्षय हो जाते हैं, वासनाएँ शांत हो जाती हैं, इच्छाओं की पूर्ति हो जाती है तो ऐसा व्यक्ति जीवनमुक्त होता है। 'प्राणवान् आत्मा' जीवात्मा है और 'प्राणमुक्त आत्मा' परमात्मा है, आकाश है, शक्ति है, प्रभु है।

जब आत्मा अजर, अमर, अनन्त और सर्वव्यापक है, जब सब की आत्मा एक ही है और मरने के बाद सब एक ही जगह जाते हैं तो ऐसी आत्मा को धारण करने वाले जीव में विभेद कैसा?

आत्मा के संबंध में कही गई सभी बातें सत्य हैं, पर नदी का जल घड़े में भर लिया जाय तो उसे नदी का जल तो कहेंगे अवश्य, फिर भी उसकी अलग सत्ता हो जाती है। जब तक हम उस घड़े को फोड़कर उसके जल को नदी में न मिला दें तब तक वह जल नदी का होते हुए भी घड़े का जल कहलाता है। नदी के पानी को बीस तरह के घड़ों में बंद किया जाय तो सभी में नदी का पानी है पर उसकी सत्ता तो बीस तरह की हो गई। जैसा घड़ा होगा वैसा उसका पानी समझा जायेगा। सारा पानी वास्तव में एक ही जगह से आया है, पर अब उसकी बीस अलग-अलग सत्तायें है। ठीक उसी तरह, जीव यद्यपि एक ही आत्मा की शक्ति को लेकर आता है पर हर योनि में जीव की सत्ता अलग-अलग रहती है। इसे हम तब तक एक नहीं कह सकते जब

तक यह शरीर छोड़कर अलग न हो जाय। आत्मा एक वायवीय तत्त्व है, हम इसे आकाश भी कह सकते हैं। आकाश सर्वव्यापी है। घट के अंदर का आकाश 'घटाकाश' है, जीव के अंदर का आकाश 'जीवाकाश' है और शून्य के अंदर का आकाश 'शून्याकाश' है। फुटबॉल के अंदर भी आकाश है, वह जहाँ भी जाती है अपने साथ आकाश को भी ले जाती है। उसी तरह यह जीव भी है। जब तक घड़ा फूटेगा नहीं, फुटबॉल की हवा निकाली नहीं जायेगी, तब तक आत्मा उस परम तत्त्व से अभिन्न होते हुये भी उस तत्त्व से अलग समझी जायेगी।

निम्न योनि के वश में जीव अगर नीच कर्म करे तब क्या उसकी आत्मा निम्न नहीं हो जायेगी?

मान लो एक धनी व्यक्ति है, लेकिन उसे अपने किसी कर्म के कारण जेल जाना पड़े और उस जेल में लोग सिगरेट की जगह बीड़ी ही पीते हों। उस धनी कैदी को धूम्रपान की आदत है तो लाचारी में उसे बीड़ी पीनी पड़ेगी, हालाँकि वह कीमती सिगरेट पी सकता है। उसी तरह कोई निम्न योनि पाया व्यक्ति जिसकी आत्मा उन्नत है अगर अपने शरीर के वशीभूत कर्म करता है तो उसे निम्न नहीं कहा जायेगा, वह शरीर धर्म ही कहलायेगा। इसलिये ऐसे व्यक्ति के शरीर धर्म के वशीभूत किये गये कर्म का शरीर भले ही भोक्ता बन जाय, आत्मा को भोक्ता नहीं कह सकते। उसके वैसे कर्म उसी जीवन में उसके शारीरिक दुःख के द्वारा भुगत लिये जाते हैं। तभी तो यदि किसी महान् संस्कारी व्यक्ति को भी दुःख भोगना पड़ता है तो उसे कर्मों का भोग ही कहते हैं।

आत्मा का पुनरागमन भी होता है, शरीर चला गया तो जीव उसी परम सत्ता में समा जाता है, उसकी सत्ता विलग नहीं रहती है। कैसा आश्चर्य है कि परम सत्ता की एकात्मकता होते हुए भी वह विभिन्न रूपों में प्रकट होती है! और फिर सत्ता के समावर्तन पर उसी विभेदात्मक शक्ति का एकात्म हो जाना कैसी विशेषता है! *फूटहिं कुम्भ जल जल ही समाना* अर्थात् कुम्भ के फूटने के बाद जल का जल में ही विलय हो जाता है।

प्रत्येक व्यक्ति इसका अनुभव कर सकता है, पर यह बात वास्तव में समझ में तभी आती है जब समय आता है। समय के पहले हर व्यक्ति भटकता रहता है, उसके सामने हर चीज रहती है पर उसे वह उस रूप में ग्रहण नहीं कर सकता जैसा कि उसे करना चाहिए।

सत्यम् संवाद

कर्म एवं कर्मयोग का क्या आशय है, कृपया व्याख्या करें?

श्रीमद्भगवद्गीता में बाह्य सुख और आंतरिक अनुभूति के लिए योग के चार प्रमुख मार्ग – कर्मयोग, भक्तियोग, राजयोग और ज्ञानयोग बतलाए गये हैं। कुछ लोग इनमें से किसी एक प्रकार के योग का अभ्यास करने पर बल देते हैं, परन्तु मनुष्य को अपने जीवन में इन चारों प्रकार के योग का मिला-जुला अभ्यास करने का निर्देश हमें गीता एवं समूची हिन्दू संस्कृति में दिया गया है।

कर्मयोग का अभ्यास मन को शुद्ध करने के लिए बहुत आवश्यक है। भक्तियोग, राजयोग तथा ज्ञानयोग भी महत्त्वपूर्ण योग हैं, किन्तु यदि मन के मैल को कर्मयोग के अभ्यास द्वारा धोकर शुद्ध नहीं किया गया, यदि संस्कारों को समूल नष्ट नहीं किया गया तो आन्तरिक अनुभूति की प्राप्ति में अवरोध उत्पन्न हो जायेंगे। यदि आपका मन अशुद्ध रहता है तो आपमें अनेक मानसिक समस्याएँ पैदा हो जायेंगी। ये समस्याएँ आपके दैनिक जीवन, आपके स्वजनों के साथ आपके संबंधों के कारण उत्पन्न होती हैं और ये समस्याएँ एवं अशुद्धियाँ ही अवरोध उत्पन्न करती हैं। यही कारण है कि आपके पास

लाखों-करोड़ों की निधि होते हुए भी आप उसका आनन्द नहीं ले सकते, आपके पास प्रत्येक वस्तु और प्रतिभा होते हुए भी आप दुःखी रहते हैं। आपके दुःख का मूल कारण क्या है? आप इसलिए दुःखी हैं कि आपका सामान्य जीवन व्यवस्थित नहीं है और वह कर्मयोग से संबंधित नहीं है।

किसी भी कार्य को कर्म कहा जाता है, चाहे वह शरीर से अथवा मन से किया गया हो। हम सभी इसे करते हैं, किन्तु कर्मयोग कुछ अलग ही है। हम कर्म क्यों करते हैं? कुछ व्यक्ति बच्चे उत्पन्न करना ही कर्म समझते हैं, कुछ लोग मौज उड़ाने को ही कर्म समझते हैं, परन्तु एक संन्यासी के लिए कर्म करने का उद्देश्य मात्र आत्मशुद्धि है। जब आप कर्म करते हैं तो उन कर्मों के द्वारा आप अपने भीतर की वृत्तियों को, अपने संस्कारों को व्यक्त करते हैं। गीता के द्वितीय अध्याय में बतलाया गया है कि हम जब कर्म करते हैं तो उनके साथ उनके फल का भी जन्म होता रहता है। इस तरह से उत्पन्न कर्मफल सर्वदा शुभ या अशुभ नहीं होता, दोनों का मिश्रण भी होता है। ऐसा होने के कारण ही हमारे मन में सदैव अमंगल होने की भावना बनी रहती है। आप इसे अपनी सूझ-बूझ से समझ भी सकते हैं या नहीं भी। उदाहरण के लिए जब आप एक बच्चे के पिता बनते हैं तो उस समय आप बहुत प्रसन्न होते हैं, किन्तु फिर एक आशंका भी आपके मन में उत्पन्न होती है, हाँलाकि उसे आप इस समय स्वीकार नहीं करते। आप सोचते हैं, 'कहीं यह पैदा होते ही मर तो नहीं जायेगा? क्या यह सामान्य रूप से बड़ा हो सकेगा?' इस प्रकार के विचार आपके मन में सदैव आते रहते हैं।

जीवन में हम चाहे जिस प्रकार का कर्म करें और उनका चाहे जो भी फल हमें प्राप्त हो, किन्तु उनके प्रति सदैव हमारे मन में एक प्रकार का भय बना रहता है। इसी कारण से मनुष्य का मन सर्वदा एक अज्ञात भय से पीड़ित रहता है। मनुष्य के इस अज्ञात भय को मनोवैज्ञानिक और योगी दोनों ही अच्छी तरह से जानते हैं। प्राय: आप यह नहीं जानते कि आपके मन की गहराई के अन्दर भय व्याप्त है। अगर जानते भी हैं तो अपने भय पर नियंत्रण प्राप्त करने के लिए अपने मन को आश्वासन देते हैं कि मेरा यह भय अर्थहीन है, इससे कुछ नहीं होने वाला है। यदि आपके मन में कुछ अमंगल होने की आशंका व्याप्त नहीं है, तो फिर आप मंदिर या गिरजाघर क्यों जाते हैं? आप किसी देवता को या किसी की मजार को या किसी देववृक्ष को सन्तुष्ट करने क्यों जाते हैं? इसलिए कि आपके मन की गहराई में भय मौजूद है और आप इसे अच्छी तरह जानते

हैं। इसलिए आप इन्हें सन्तुष्ट करने जाते हैं एवं इन्हें सन्तुष्ट करके आप अपने भय को खत्म करने का प्रयास करते हैं।

आप चाहे लखपति-करोड़पति बन जायें, महान् विद्वान् या कलाकार बन जायें या अजेय ही क्यों न बन जायें, परन्तु फिर भी मन की गहराइयों में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से भय व्याप्त रहता ही है। इसलिए कर्म और उसके फल के बीच एक प्रकार का सामंजस्य होना चाहिये। गीता में भगवान कृष्ण अर्जुन को यही उपदेश देते हैं। वे कहते हैं, 'हे अर्जुन! कर्म करना ही तुम्हारा मुख्य उद्देश्य है। फल की आशा को त्यागकर कर्म को पूर्ण करना ही तुम्हारा लक्ष्य होना चाहिये। कर्म को पूर्ण करना और साथ ही उसके फल के प्रति अनासक्त होना ही कर्मयोग है।'

गीता में श्रीकृष्ण ने स्पष्ट किया है कि आप अपनी इन्द्रियों से, शरीर से, बुद्धि से कार्य कर सकते हैं, आप इनके द्वारा स्वयं के लिए, अपने परिवार-समाज के लिए अथवा किसी अन्य के लिए कार्य कर सकते हैं, किन्तु आप जो कुछ भी करें उसमें एक ही उद्देश्य निहित होना चाहिये और वह है आत्मशुद्धि। आपको सर्वदा कर्मफल से परे रहना चाहिये। जिस क्षण आप कर्मफल के प्रति आसक्त हो जाते हैं उसी क्षण से जाने-अनजाने आप दुःखी होने लगते हैं और यहीं से मन की शुद्धता का पतन आरम्भ हो जाता है।

मन की शुद्धता क्या है? यह शुद्धता नैतिकता के विषय में, धर्म के विषय में अथवा परोपकार के विषय में नहीं है। मन की शुद्धता को जानने के लिए पहले हमें मन की अशुद्धता पर विचार करना होगा। जब आप शान्त होकर बैठते हैं तो आपका मन विचलित होता रहता है। एक-के-बाद-एक विचार लगातार आते रहते हैं, एक विचार पर दूसरा विचार तुरन्त हावी हो जाता है। एक विचार दूसरे विचार को पीछे छोड़ देता है। कभी-कभी आपके दिमाग में इतनी उलझन हो जाती है कि आप पागल भी हो सकते हैं। आपके मस्तिष्क में अनेक विचार-तरंगें चलायमान रहती हैं और एक विचार-तरंग दूसरी विचार-तरंग का विरोध करती रहती है। मानसिक विक्षिप्तता की प्रवृत्ति, मानसिक रोग होने की प्रवृत्ति प्रत्येक व्यक्ति में होती है। इसलिए जब आप ध्यान करने बैठते हैं तो आपके ही विचार आपको चित्ररूप में दिखलाई पड़ते हैं। जब आपके जीवन में विपत्ति आती है तो प्रत्येक चीज का विस्फोट होता है।

आप तभी तक नाईट क्लब, सिनेमा, पिकनिक इत्यादि का आनन्द लेते रहते हैं, जब तक कठिनाई सामने नहीं आती। जब कठिनाइयाँ सामने आती हैं

तो जीवन की सारी रंगरलियाँ लुप्त हो जाती हैं। ये कठिनाइयाँ, ये विपत्तियाँ कहाँ से आती हैं? ये आपके मन की गहराइयों में बैठे संस्कारों द्वारा ही पैदा होती हैं एवं ये संस्कार ही आपके मन की अशुद्धि के कारण हैं। इसलिए आत्मशुद्धि या मानसिक शुद्धि का अर्थ है मन का प्राकृतिक संस्कारों के प्रभाव से मुक्त होना। जब मन शुद्ध हो जाता है तो क्या होता है? तब निर्मलता प्राप्त होती है। आप जब शीशे को साफ करेंगे, तभी अपना प्रतिबिम्ब उसमें देख सकेंगे और यदि शीशे को साफ नहीं करेंगे तो आप अपने आपको उसमें नहीं देख पायेंगे।

मन को एकाग्र करने के लिए कर्मयोग द्वारा मन की शुद्धता प्राप्त कर लेना बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह गृहस्थ और संन्यासी, दोनों के लिए आवश्यक है। गृहस्थ इच्छाओं, आकांक्षाओं, उत्कंठाओं के वशीभूत होकर धन-सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए कार्य करते हैं। इन कार्यों को वे जब कर्मयोग में परिवर्तित कर देते हैं तब निर्मलता, विशुद्धता एवं मन की एकाग्रता प्राप्त हो जाती है।

योग साधना से इच्छाशक्ति बढ़ती है, क्या उसका उपयोग अपनी सांसारिक सफलता के लिए करना चाहिए?

मनुष्य को अपने प्रगतिशील जीवन की सफलता के लिए इच्छाशक्ति का उपयोग करने का अधिकार है, किन्तु इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि उससे किसी का बुरा न हो। सांसारिक जीवन आखिर इच्छशक्ति के आधार पर ही चलता है। इसलिए योग साधना के द्वारा अपनी संकल्पशक्ति को बढ़ाओ और अपने व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन को समृद्ध करो। ऐसा नहीं होना चाहिए कि अपना काम बना लिया और दूसरे का बंटाधार।

जब तक आसक्ति है मनुष्य में अहंकार भी रहता है। क्या अनासक्त व्यक्ति में अहंकार नहीं होता? कृपया अहंकार को समाप्त करने का उपाय बतलायें।

आसक्ति और अहंकार, ये दोनों साथ-साथ चलते हैं और दोनों जीवन के लिए थोड़ी दूर तक जरूरी हैं। अगर आसक्ति नहीं रहेगी तो आदमी का मन छितरा जाएगा, विक्षिप्त हो जाएगा, और यदि अहंकार नहीं रहेगा तो उसकी वैयक्तिकता नहीं रहेगी। विक्षेप को रोकने के लिए और अपना व्यक्तित्व बनाये रखने के लिए आसक्ति और अहंकार की जरूरत अवश्य है। जैसे-जैसे हम आध्यात्मिक जीवन जीते हैं और एकाग्र होते जाते हैं, वैसे-वैसे आसक्ति

और अहंकार अपने आप कम होते जाते हैं। इसलिये आसक्ति और अहंकार को जल्दी से खत्म करने की कोशिश नहीं करनी चाहिये। जैसे बच्चे की मूँछ नहीं होती, पर जब वह बड़ा होता है तो उसकी मूँछ अपने आप आ जाती है।

आध्यात्मिक विकास के साथ आसक्ति और अहंकार स्वयं कम हो जाते हैं, मगर लोग चाहते हैं कि सब कुछ इसी जीवन में हो जाय। ऐसा संभव नहीं है, क्योंकि यह जीवन बहुत छोटा है। तुम अगर सौ साल भी जिन्दा रहोगे तो भी इसको छोटा मानो। जैसे तुम स्कूल की एक कक्षा में एक साल रहते हो तो यहाँ समझो कि जीवन की पाठशाला की एक कक्षा सौ साल की है। हर जन्म आध्यात्मिक विकास का एक सोपान है। अगर हम चाहें कि इसी जीवन में आसक्ति न रहे, अहंकार न हो और जीवनमुक्त बन जायें तो आध्यात्मिक विकास के सब नियम खत्म हो जायेंगे। हर लड़का विश्वविद्यालय में जाना चाहता है, मगर उसके लिए उसे पहले प्रायमरी, मिडिल, फिर सेकेण्डरी स्कूल जाना होग, उसके बाद विश्वविद्यालय जायेगा। मनुष्य जीवन का आध्यात्मिक विकास भी इसी तरह होता है।

संत-महात्मा कहते हैं कि चौरासी लाख योनियों तक इंतजार करने के बाद यह मनुष्य योनि प्राप्त हुई है। यह मनुष्य योनि भी तीन स्तरों की होती है – तामसिक योनि, राजसिक योनि और सात्त्विक योनि। अभी लोग प्राय: जिस स्तर पर हैं वह तामसिक और राजसिक की मिश्रित योनि है। हम लोग केवल तामसिक नहीं हैं, और केवल राजसिक भी नहीं हैं। कुछ हद तक राजसिक हैं और कुछ तामसिक। महात्माओं के पास कभी बैठ गये तो थोड़ी सात्त्विक भावना भी रहती है। तामसिक और राजसिक योनि में आसक्ति और अहंकार का अपना महत्त्व है। जब तुम सात्त्विक जीवन में पहुँचोगे तब उनकी भूमिका कम हो जायेगी। इस जन्म में अगर नहीं पहुँचोगे तो अगले जन्म में पहुँचोगे। इस तरह धीरे-धीरे अहंकार अपने आप खत्म हो जायेगा।

पाप और पुण्य का फल किसको मिलता है? और प्राय: अच्छे लोगों को ही दु:ख क्यों मिलता है?

पाप और पुण्य का फल शरीर को मिलता है। शरीर तीन प्रकार के हैं – स्थूल, सूक्ष्म और कारण। स्थूल शरीर की इतिश्री श्मशान घाट में होती है, सूक्ष्म और कारण शरीर नयी योनि में आ जाते हैं, लेकिन पाप-पुण्य का यह विषय आत्मा का नहीं है।

जब व्यक्ति पैदा होता है तब उसके शरीर में पाँच तत्त्व होते हैं – आकाश, जल, वायु, अग्नि और पृथ्वी। सृष्टि विज्ञान में इसे पंचीकरण कहा जाता है। इस रीति से यह सृष्टि पैदा होती है। इसी क्रिया से यह शरीर बनता है। बाद में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ स्थित होती हैं। ये सब शरीर अपने-अपने एक विशिष्ट कारण को लेकर आते हैं और अपनी आयु समाप्त होने पर चले जाते हैं। ये पाँचों तत्त्व विलग हो जाते हैं और तब स्थूल शरीर को जलाया जाता है। स्थूल शरीर के उपरांत संस्कार होते हैं जो जमा रहते हैं। आप उन्हें जमा होने से किसी हालत में रोक नहीं सकते।

पिछले जन्म में किये हुए काम की याद हमें क्यों आती है? इसलिए कि उसके संस्कार पहले से हमारे अन्दर जमा पड़े हैं। जब तक योग साधना से इनको अलग करने का उद्योग नहीं करते तब तक ये कारण शरीर में बैठे रहते हैं और उनका प्रभाव वातावरण में भी जाता है। प्रत्येक व्यक्ति में अच्छे, बुरे और मध्यम, तीन प्रकार के संस्कार होते हैं। जब वे इस शरीर को छोड़कर जाते हैं तब अपनी वृत्तियों के अनुसार जाते हैं, उनकी संस्कार पीठिका साथ जाती है।

ब्रह्माण्ड में तारों से परे भी पृथ्वी की सीमा और वातावरण है। वायु के न होते हुए भी स्पंदन अवश्य हैं। ये सूक्ष्म स्पंदन हैं जो वातावरण में बार-बार इधर-से-उधर आते-जाते हैं। उनका एक सजातीय मंडल और रूप होता है, वे एकत्रित होते हैं। ये रूप भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। मृत्यु के बाद जहाँ स्थान मिला ये विघटित होकर चले जाते हैं। हमारे जीवन के सभी संस्कार अपनी-अपनी जगह पर वायु-मंडल में बैठ जाते हैं। जिस प्रकार एक हिन्दू

अपने हिन्दुत्व को या अंग्रेज अपने अंग्रेजियत को नहीं छोड़ता, उसी तरह यह संस्कार अपना एक विशिष्ट गुण कायम रखते हैं। दासत्व, राजत्व आदि गुण अपने साथ ले जाते हैं। बाद में किसी आकस्मिक घटना से कुछ ऐसा संयोग होता है कि एक प्रकार के गुण वाले संस्कार इकट्ठे हो जाते हैं और उनका एक रूप तैयार हो जाता है। तब एक नये सूक्ष्म देह की रचना प्रारंभ हो जाती है, एक प्रकार का रूप तैयार होता है और सभी संस्कार वहीं चले जाते हैं। इसी को लेकर बाद में शरीर में मनोवृत्ति के साथ मिल जाते हैं और काफी समय के बाद पुनर्जन्म होता है, पुनर्जन्म तुरंत नहीं होता।

धर्म का पालन करने वाले को दुःख मिलता है, यह हमारे मन की एक भावना बनी हुई है, लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं है। जो व्यक्ति अच्छा काम करता है उसे कष्ट सहने पड़ते हैं, लेकिन इसे वह बलिदान के रूप में देखता है। बलिदान देकर धर्मात्मा लोग सुखी होते हैं। जिसको हम दुःख समझते हैं, वह धर्मात्मा की दृष्टि में दुःख नहीं होता है और जब तक दुःख को सुख मानने की दृष्टि नहीं आती तब तक वह धर्मात्मा, धर्मात्मा नहीं है। उसे दुःख को धर्म में बदलना है और सुख को दुःख मानना है। इसलिये धर्मात्मा दुःखी होते हैं और दुराचारी सुखी होते हैं, यह सच नहीं है। डॉक्टर क्लारोफार्म देकर ऑपरेशन करते हैं तब आपको पता नहीं चलता क्योंकि इन्द्रियों से संबंध नहीं रहता, उसी तरह दुःख संबंध रखने से होता है। दुःख अपने ही मन की स्थिति है।

मूर्ति से कर्मयोग की अनुभूति

कोने में एक धूमिल मूर्ति पीतल की पड़ी थी,
जो महीनों से बड़ी काली हो रखी थी।
पीताम्बरी लगा उसे मैं घिसने लगी थी,
फिर नरम कपड़े से उसे चमकाने लगी थी।
असृजन से मेरी प्राण-शक्ति भी काली पड़ी थी,
मानो अवहेलना से रूखी-सूखी पड़ी थी,
अकस्मात् घिसते-घिसते परतें उतरती गयीं,
मेरी बंद नसों में संजीवनी उतरती गयी।
पता नहीं मैं मूर्ति को, या वह मुझे चमका रही थी।

– संन्यासी ज्ञानश्रुति, कोलकाता

योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट

कर्म और कर्मयोग

स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती

पृष्ठ 85, ISBN: 978-93-81620-60-1

कर्म मानव प्रकृति की मौलिक अभिव्यक्ति है जो सहज और स्वाभाविक रूप से व्यक्त होती है। यह सारी सृष्टि कर्म की साक्षात् अभिव्यक्ति ही है, जिसमें कर्म का बीज दैवी इच्छा से आरोपित किया गया है।

कर्म और कर्मयोग स्वामीजी के फरवरी 2010 के योगदृष्टि सत्संगों का विषय था। ये प्रबोधक सत्संग इस विषय को एक नए परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने के साथ-साथ उत्कृष्ट जीवन जीने का सरल मार्ग प्रशस्त करते हैं। इन सत्संगों में विषय के सैद्धान्तिक पक्षों के साथ-साथ व्यावहारिक पक्षों का सुबोध निरूपण है।

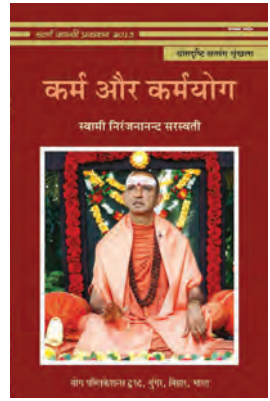

उपलब्ध

पुस्तकों की मूल्य सूची एवं क्रयादेश प्रपत्र प्राप्त करने के लिए सम्पर्क करें –
योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, गरुड विष्णु, पी.ओ. गंगा दर्शन, फोर्ट, मुंगेर, बिहार 811201
दूरभाष : 91–6344–222430, 9162783904

जवाब के लिए अपना पता लिखा, डाकटिकट लगा लिफाफा भेजें, अन्यथा आपके आवेदन पर विचार नहीं किया जाएगा

वेबसाइट और एप्प

www.biharyoga.net
बिहार योग पद्धति की मुख्य वेबसाइट पर बिहार योग, बिहार योग विद्यालय, बिहार योग भारती, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट तथा योग शोध संस्थान संबंधी जानकारियाँ उपलब्ध हैं।

सत्यम् योग प्रसाद
बिहार योग परम्परा की समस्त प्रकाशित कृतियाँ *satyamyogaprasad.net* वेबसाइट पर तथा *Android* एवं *iOS* उपकरणों पर एप्प के रूप में प्रस्तुत हैं।

यौगिक जीवनशैली साधना
biharyoga.net तथा *satyamyogaprasad.net* पर स्वस्थ जीवन हेतु यौगिक जीवनशैली साधना उपलब्ध है।

योगा एवं योगविद्या ऑनलाइन
www.biharyoga.net/bihar-school-of-yoga/yoga-magazines/
www.biharyoga.net/bihar-school-of-yoga/yogavidya/

योगा एवं योगविद्या पत्रिकाएँ *Android* एवं *iOS* उपकरणों पर एप्प के रूप में भी उपलब्ध हैं।

अन्य एप्प (Android एवं iOS उपकरणों के लिए)
- योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट की लोकप्रिय पुस्तक, ए.पी.एम.बी. अब सुविधाजनक एप्प के रूप में उपलब्ध है
- *Bihar Yoga* एप्प साधकों के लिए प्राचीन और नवीन यौगिक ज्ञान आधुनिक ढंग से पहुँचाता है
- *For Frontline Heroes* एप्प कोरोनावायरस के विरुद्ध अभियान में संघर्षरत कार्यकर्ताओं के लिए सरल योग अभ्यास प्रस्तुत करता है जो महामारी से उत्पन्न तनाव को सम्हालने में सहायक हैं

- Registered with the Department of Post, India
  Under No. MGR-01/2020-23
  Office of posting: Ganga Darshan TSO
  Date of posting: 1st-7th of every month
- Registered with the Registrar of Newspapers, India
  Under No. BIHHIN/2002/6306

issn 0972-5725

सभी ग्राहकों के लिए महत्त्वपूर्ण सूचना

आत्मस्वरूप

हरि: ॐ

हमें यह सूचित करते हुए हर्ष हो रहा है कि जनवरी 2021 से मासिक योगा (अंग्रेज़ी) तथा योगविद्या (हिन्दी) पत्रिकाएँ सभी ग्राहकों, सहयोगियों, योगप्रेमियों, भक्तों तथा आध्यात्मिक साधकों के लिए निम्नांकित वेबसाइटों पर नि:शुल्क उपलब्ध हैं –

www.satyamyogaprasad.net

www.biharyoga.net

वर्तमान कोरोनावायरस महामारी और उससे उत्पन्न अनिश्चितता के कारण योगा और योगविद्या की प्रकाशित प्रतियाँ 2022 में ग्राहकों के लिए उपलब्ध नहीं रहेंगी। इसलिए 2022 में इन पत्रिकाओं के लिए नए सदस्यता आवेदन या पुरानी सदस्यता को बढ़ाने के आवेदन स्वीकार **नहीं** किए जा रहे हैं। अत: इन पत्रिकाओं के लिए सदस्यता आवेदन **मत** भेजिए।

पत्रिकाओं सम्बन्धी परिस्थिति की जानकारी आपको समय-समय पर मिलती रहेगी।

इस बीच श्री स्वामी शिवानन्द सरस्वती और श्री स्वामी सत्यानन्द सरस्वती की शिक्षाओं को ग्रहण कर उन्हें अपनी दिनचर्या में आत्मसात् एवं अभिव्यक्त कीजिये ताकि आपका जीवन उदात्त और उन्नत बन सके।

आपके स्वास्थ्य, कल्याण और शांति के लिए श्री स्वामी सत्यानन्द जी के आशीर्वाद सहित,

ॐ तत्सत्

सम्पादक